गिजुभाई ग्रंथमाला-14

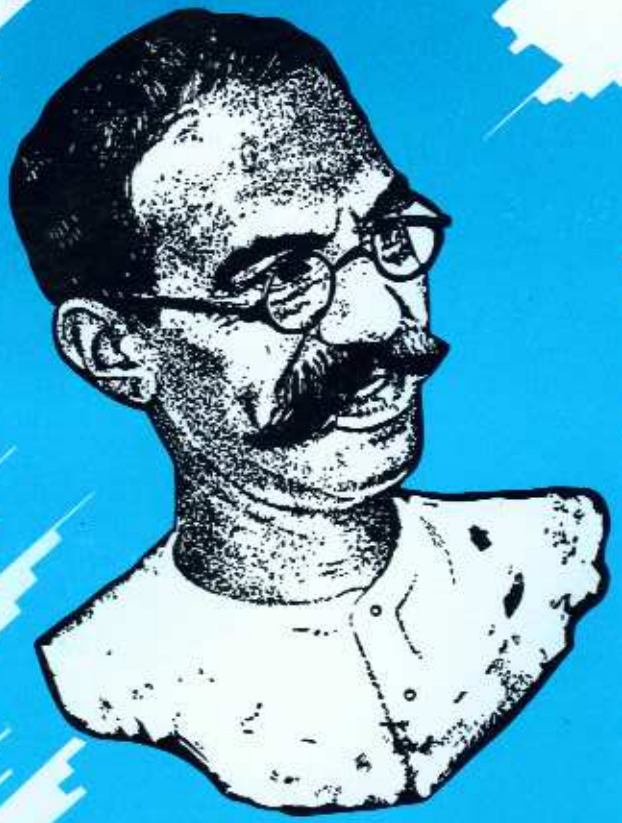

प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा

भाग-1

गिजुभाई

गिजुभाई-ग्रंथमाला-14

प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा

(प्रथम भाग)

लेखक

गिजुभाई

अनुवाद

रामनरेश सोनी

मोंटेसरी-बाल-शिक्षण-समिति,

राजलदेसर (चूरू) 331802

© विमलाबहन बधेका
दक्षिणामूर्ति-बालमन्दिर
भावनगर 364002 (गुजरात)

प्रकाशक :
मोंटेसरी-बाल-शिक्षण-समिति
राजलदेसर (चूरू)

प्रकाशन-वर्ष : 2009 ई.

प्रतियां : 1,100

मूल्य : बत्तीस रुपये मात्र

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स
विनायक शिखर, शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

प्रकाशकीय

हमारे साथियों ने जब यहाँ पर सन् 1954 में अभिनव बालभारती नामक संस्था स्थापित की थी, तभी मेरे जेहन में बाल-शिक्षण के साथ ही साथ अध्यापकों को प्रशिक्षण देने का विचार भी उठ रहा था, बल्कि अभिभावकों द्वारा प्रशिक्षण लेने का विचार भी मेरे मन में बहुत प्रबल था। मैं सौभाग्यशाली रहा कि एक बार कलकत्ते में मुझे प्रख्यात बाल-शिक्षाविद् स्व. के. यू. भामरा से प्रशिक्षण लेने का अवसर मिला, सन् 1958-59 में।

उस प्रशिक्षण ने मेरे इस चिंतन की दिशा को और भी पुष्ट कर दिया कि बाल-शिक्षण के लिए अध्यापकों का ही नहीं, माता-पिताओं का भी नजरिया बदलना जरूरी है। मेरे आग्रह पर स्व. के. यू. भामरा यहाँ पधारे और सन् 1962 में उन्होंने मोण्टीसोरी प्रशिक्षण का काम शुरू किया। आज 25 वर्षों से अध्यापकों के शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्यक्रम यहाँ जारी है और अब तक लगभग 200 अध्यापक प्रशिक्षण का लाभ हासिल कर चुके हैं।

मैं अब भी बराबर अनुभव करता रहा हूँ कि अध्यापक बनने के लिए मोण्टीसोरी-शिक्षण का प्रशिक्षण लेना एक बात है, और बच्चों के माता-पिता बनने के लिए प्रशिक्षण लेना एक अलग अहमियत रखता है। मेरी पत्नी और दोनों पुत्रियों ने महज इसी इरादे से प्रशिक्षण लिया था। मैं चाहता हूँ कि अभिभावकों को इस दिशा में प्रेरित किया जाना जरूरी है। इसी इरादे से पिछले दिनों हमने संस्था में 'अभिभावकत्व-शिक्षण' पर एक संगोष्ठी भी आयोजित की थी। संगोष्ठी में बाल-शिक्षण के अछूते पक्षों पर तो रोशनी डाली ही गई, संस्था के लिए एक सुझाव भी सामने आया कि माता-पिता की शिक्षा के लिए शैक्षिक-साहित्य प्रकाशित कराया जाए। हमने इसे स्वीकार किया, और पहला कदम यह उठाना ज़रूरी समझा कि देश के महान बाल-शिक्षाविद् स्व. गिजुभाई बधेका की गुजराती भाषा में लिखी हुई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करवाकर पुस्तकाकार प्रकाशित करें। इस दिशा में इंदौर के महान गाँधीवादी चिंतक एवं मध्य भारत के प्रथम शिक्षामन्त्री श्री काशिनाथ त्रिवेदी का हमें अभूतपूर्व सहयोग एवं प्रोत्साहन मिला। स्व. गिजुभाई की अनेक पुस्तकों का वे सन् 1932-34 के कार्यकाल में ही अनुवाद कर चुके हैं, और शेष का भी अनुवाद करने का उनका संकल्प है। इसी दिशा में मुझे 'शिविरा-पत्रिका' के संपादकीय सहकर्मी श्री रामनरेश सोनी का भी सहयोग मिला है।

पुस्तक-प्रकाशन का काम अपने काम में बहुत कठिन होता है, विशेषतया अर्थ के अभाव में तो असम्भव-प्राय हो जाता है। पर हमारा सौभाग्य है कि मेरे अनुरोध को यशस्वी दानदाताओं ने स्वीकार किया, और प्रत्येक पुस्तक को अकेले अपने ही आर्थिक-सहयोग से छापने का भार वहन किया है।

इस पुस्तक की 'भूमिका' के लिए राज्य के जाने-माने शिक्षाविद, विचारक, लेखक, गिजुभाई की रचनाओं के अध्येता तथा राज्य संदर्भ केन्द्र जयपुर के पूर्व निदेशक श्री रमेश थानवी का और 'सम्पादकीय निवेदन' के लिए श्रद्धेय काशिनाथ त्रिवेदी का मैं हार्दिक आभार मानता हूँ।

राजस्थान सरकार ने 'दिवास्वप्न' और 'बाल-शिक्षण : जैसा मैं समझ पाया' की पिछले प्रकाशन में पांच-पांच हजार प्रतियां ऑपरेशन-ब्लैकबोर्ड के अंतर्गत खरीदकर अपने विद्यालयों को भेजी। मुझे खुशी है कि शिक्षा विभाग ने हमारे प्रकाशन कार्य की उपयोगिता को समझा।

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति **—कुन्दन बैद**
राजलदेसर

संपादक का निवेदन

हिन्दी में गिजुभाई ग्रंथमाला का अवतरण

अपने जन्म से पहले अपनी माँ के गर्भ में, और जन्म के बाद अपने माता-पिता और परिवार के बीच, हमारे निर्दोष और निरीह बच्चों को हमारी ही अपनी नादानी, नासमझी और कमजोरियों के कारण शरीर और मन से जुड़े जो अनगिनत दुःख निरन्तर भोगने पड़ते हैं, जो उपेक्षा, जो अपमान, जो तिरस्कार, जो मार-पीट और डाँट-फटकार उनको बराबर सहनी पड़ती है, यदि कोई माई का लाल इन सब पर एक लम्बी दर्द-भरी कहानी लिखे, तो निश्चय ही वह कहानी, हम में से जो भी संवेदनशील हैं, और सहृदय हैं, उनको रुलाये बिना रहेगी ही नहीं। अपने ही बालकों को हमने ही तन-मन के जितने दुःख दिए हैं, चलते-फिरते और उठते-बैठते हमने उनको जितना मारा-पीटा, रुलाया, सताया और दुरदुराया है, उसकी तो कोई सीमा रही ही नहीं है। इन सबकी तुलना में हमारे घरों में बालकों के सही प्यार-दुलार का पलड़ा प्रायः हल्का ही रहता रहा है।

ऐसे अनगिनत दुखी-दरदी बालकों के बीच उनके मसीहा बनकर काम करने वाले स्वर्गीय गिजुभाई बधेका की अमृत वर्षा करने वाली लेखनी से लिखी गई, और माता-पिताओं और शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए वरदान-रूप बनी हुई छोटी-बड़ी गुजराती पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद इस गिजुभाई ग्रंथमाला के नाम से प्रकाशित करने का सुयोग और सौभाग्य बाल-शिक्षा के काम में लगी हमारी एक छोटी-सी शिक्षा-संस्था को मिला है, इसकी बहुत ही गहरी प्रसन्नता और धन्यता हमारे मनःप्राण में रम रही है। हमको लगता है कि इससे अधिक पवित्र और पावन काम हमारे हिस्से न पहले कभी आया, और न आगे कभी आ पाएगा। हम अपनी इस कृतार्थता को किन शब्दों में और कैसे व्यक्त करें, इसको हम समझ नहीं पा रहे हैं। हम नम्रतापूर्वक मानते हैं कि परम मंगलमय प्रभु की परम सुख देने वाली आन्तरिक प्रेरणा का ही यह एक मधुर और सुखद फल है। इसको लोकात्मा रूपी और घट-घट-व्यापी प्रभु के चरणों में सादर, सविनय समर्पित करके हम धन्य हो लेना चाहते हैं : **त्वदीय वस्तु गोविन्दः तुभ्यमेव समर्पयेत् !**

क्राउन सोलह पेजी आकार के कोई तीन हजार की पृष्ठ संख्या वाली इस गिजुभाई ग्रंथमाला में गिजुभाई की जिन 15 पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित

करने की योजना बनी है, उनमें चार पुस्तकें माता-पिताओं के लिए हैं। चारों अपने ढंग की अनोखी और मार्गदर्शक पुस्तकें हैं। घरों में बालकों के जीवन को स्वस्थ, सुखी और समृद्ध बनाने की प्रेरक और मार्मिक चर्चा इन पुस्तकों की अपनी विशेषता है। ये हैं :

1. माता-पिता से
2. मां-बाप बनना कठिन है
3. माता-पिता के प्रश्न
4. माँ-बापों की माथापच्ची।

बाकी ग्यारह पुस्तकों में बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के विविध अंगों की विशद चर्चा की गई है। इनके नाम यों हैं :

1. मोण्टीसोरी-पद्धति
2. बाल-शिक्षण : जैसा मैं समझ पाया
3. प्राथमिक शाला में शिक्षा-पद्धतियां
4. प्राथमिक शाला में शिक्षक
5. प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा
6. प्राथमिक शाला में चिट्ठी-वाचन
7. प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा, भाग 1-2
8. दिवास्वप्न
9. शिक्षक हों तो
10. चलते-फिरते
11. कथा-कहानी का शास्त्र, भाग 1-2

इनमें 'मोण्टीसोरी पद्धति', 'दिवास्वप्न' और 'कथा-कहानी का शास्त्र' ये तीन पुस्तकें अपनी विलक्षणता और मौलिकता के कारण शिक्षा-जगत् के लिए गिजुभाई की अपनी अनमोल और अमर देन बनी हैं। इनमें बाल-देवता के पुजारी और बाल-शिक्षक गिजुभाई ने बहुत ही गहराई में जाकर अपनी आत्मा को उंडेला है। बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के मर्म को समझने में ये अपने पाठकों की बहुत मदद करती हैं। बार-बार पढ़ने, पीने, पचाने और अपनाने लायक भरपूर सामग्री इनमें भरी पड़ी है। ये अपने पाठकों को बाल-जीवन की गहराइयों में ले जाती हैं, और बाल-जीवन के मर्म को समझने में पग-पग पर उनकी सहायता करती हैं।

गिजुभाई की इन पन्द्रह रचनाओं में से केवल दो रचनाएं, 'दिवास्वप्न' और 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा' सन् 1934 में पहली बार हिन्दी में प्रकाशित हुई थीं। शेष सब रचनाएं अब सन् 1987 से क्रम-क्रम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित होने वाली हैं। पचास से भी अधिक वर्षों तक हिन्दी-भाषी जनता का हमारा शिक्षा-जगत् इन पुस्तकों के प्रकाशन से वंचित बना रहा। न गिजुभाई का जन्म-शताब्दी-वर्ष आता, और न यह पावन अनुष्ठान हमारे संयुक्त पुरुषार्थ का एक निमित्त बनता। 15 नवम्बर, 1984 को शुरू हुआ गिजुभाई का जन्म-शताब्दी-वर्ष 15 नवम्बर, 1985 को पूरा हो गया। किन्तु गुजरात की बाल-शिक्षा-संस्थाओं ने और बाल-शिक्षा-प्रेमी भाई-बहनों ने गुजरात की सरकार के साथ जुड़कर जन्म-शताब्दी-वर्ष की अवधि 15 नवम्बर, 86 तक बढ़ाई, और गिजुभाई के जीवन और कार्य को उसके विविध रूपों में जानने और समझने की एक नई लहर गुजरात-भर में उठ खड़ी हुई। गुजरात के पड़ौसी के नाते उस लहर ने राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के हम कुछ साथियों को भी प्रेरित और प्रभावित किया। फलस्वरू गिजुभाई ग्रंथमाला को हिन्दी में प्रकाशित करने का शुभ संकल्प राजस्थान के राजलदेसर नगर के बाल-शिक्षा-प्रेमी नागरिक भाई श्री कुन्दन बैद के मन में जागा, और उन्होंने इस ग्रंथमाला को हिन्दी-भाषी जगत् के हाथों में सौंपने का बीड़ा उठा लिया।

हमको विश्वास है कि भारत का हिन्दी-भाषी जगत्, विशेषकर उसका हिन्दी-भाषी शिक्षा-जगत्, अपने बीच इस गिजुभाई ग्रंथमाला का भरपूर स्वागत, मुक्त और प्रसन्न मन से करेगा, और इससे प्रेरणा लेकर अपने क्षेत्र के बाल-जीवन और बाल-शिक्षण को सब प्रकार से समृद्ध बनाने के पुण्य-पावन कार्य में अपने तन-मन-धन की तल्लीनता के साथ जुट जाना पसन्द करेगा। हिन्दी में गिजुभाई ग्रंथमाला के अवतरण की इससे अधिक सार्थकता और क्या हो सकती है?

अपने जीवन-काल में गिजुभाई ने अपनी रचनाओं को अपनी कमाई का साधन बनाने की बात सोची ही नहीं। अपने चिन्तन और लेखन का यह नैवेद्य भक्तिभावपूर्वक जनता जनार्दन को समर्पित करके उन्होंने जिस धन्यता का वरण किया, वह उनकी जीवन-साधना के अनुरूप ही रहा। गिजुभाई के इन पदचिह्नों का अनुसरण करके हमने भी अपनी गिजुभाई ग्रंथमाला को व्यावसायिकता के स्पर्श से मुक्त रखा है, और ग्रंथमाला की सब पुस्तकों को उनके लागत मूल्य में ही पाठकों तक पहुँचाने का शुभ निश्चय किया है।

बीकानेर, राजस्थान के हमारे बाल-शिक्षा-प्रेमी साथी, जाने-माने शिक्षाविद् और गिजुभाई के परम प्रशंसक श्री रामनरेश सोनी इस ग्रन्थमाला के अनुष्ठान को सफल बनाने में हमारे साथ सक्रिय रूप से जुड़ गए हैं, इससे हमारा भार बहुत हल्का हो गया है।

हमको खुशी है कि हमारे साथी श्री कुन्दन बैद इस ग्रन्थमाला की 15 पुस्तकों के लिए पन्द्रह ऐसे उदार और सहृदय दाताओं की खोज में लगे हैं, जो इनमें से एक-एक पुस्तक के प्रकाशन का सारा खर्च स्वयं उठा लेने को तैयार हों। इसमें भी पहल श्री कुन्दन बैद ने ही की है। त्याग और तप की बेल तो ऐसे ही खाद-पानी से फूलती-फलती रही है !

—काशिनाथ त्रिवेदी

गांव-पीपल्याराव
इन्दौर-452001

छपते-छपते

हम अपने पाठकों को अत्यंत दुःख के साथ सूचित कर रहे हैं कि गिजुभाई ग्रंथमाला के हिन्दी अवतरण के हमारे संपादक श्रद्धेय काशिनाथ त्रिवेदी का 26 जून, 1996 को देहांत हो गया। वे 90 वर्ष के थे। उस महान विभूति को हमारा सादर नमन।

उनकी प्रेरणा से अनुवाद का काम लगभग पूरा हो चुका है, अब पुस्तकें मुद्रित होकर पाठकों के हाथों में आनी शेष हैं।

—कुंदन बैद

भूमिका

कला को पा लेने और जी लेने का अवसर कौन देगा बालक को ?

कला की दुनिया प्रेम की दुनिया है। लबालब प्यार की दुनिया। यह आजादी की दुनिया है। स्वतन्त्रता की दुनिया। स्वाधीनता की दुनिया। आजादी को जन्मसिद्ध अधिकार की तरह जीने और बाकी जगत के लिए आजादी रचने की दुनिया। रचना केवल आजादी की नहीं, आनन्द की नहीं, संपूर्ण आनंद की। यह परिपूर्ण करने वाला आनन्द सृजन की सारी संभावनाओं को खोल देने से मिलता है। कला की दुनिया उसी सृजन के सारे अवसर देने की दुनिया है। यह उमंग और उत्साह की दुनिया है। यहां उदासी को कोई स्थान नहीं। यह मुस्कराने, किलकने, पुलकने और ठहाका लगा कर हंसने की दुनिया है। यहां रुलाई व रुसवाई को कोई स्थान नहीं होता। यह संपूर्ण आनंद की दुनिया है। आनंद लेने व आनंद देने की दुनिया है। गिजुभाई ऐसे ही कला संसार में ले जाना चाहते थे हर बालक को। हर बालक को ऐसे कला संसार में प्रवेश दिलाने तक वे बालक के साथ रहना चाहते थे। याकि वे चाहते थे कि अध्यापक या कला-शिक्षक केवल तब तक बालक के साथ रहे। इसके बाद बालक स्वयं कला-सागर में गोता लगायें, इसकी अथाह और अतल गहराइयों में खो जायें और अपनी पसंद के मोती स्वयं बीन लायें।

मोतियों के पारखी भी वे स्वयं बनें। कोई उनको कहे नहीं कि अमुक मोती खरा है और अमुक खोटा! कोई उनका हाथ थाम कर साथ न चले। अंगुली पकड़ कर न सिखाये। उनको स्वयं सीखने दे। स्वयं आगे बढ़ने दे और जानने दे कि कौन सा मोती खरा है और कौन-सा खोटा? गिजुभाई हर बालक को सृजन का एक ऐसा ही खुला संसार देना चाहते थे। सृजन का एक ऐसा ही सुखद अनुभव देना चाहते थे। वे सीखने के हर मार्ग को सदा सुखदायी बनाये रखना चाहते थे। वे दुरूह और कष्टदायी तरीकों से स्वयं कतराते थे, उनको देख कर ही

घबराते थे और मानते थे कि ऐसे ही कष्टदायी तरीकों से सृजन की हत्या होती है। शिक्षण की मौत होती है।

गिजुभाई का ऐसा ही मंतव्य उनकी इस पुस्तक में प्रकट होता है। गिजुभाई की यह पुस्तक इस भय से ही प्रारम्भ होती है कि आज बालकों की सृजनात्मक क्षमता की हत्या होती है। वे इस हत्या को रोकना चाहते थे तुरन्त। आज भी चाहते हैं। अपने विचार की संपूर्ण अमरता के साथ। वे घर-परिवार और विद्यालय को सृजनात्मकता की समझ देना चाहते हैं। इसका एक बोध देना चाहते हैं। इसके विकास की ताल-लय का परिचय देना चाहते हैं। सृजन के लिए पहली शर्त के रूप में जिस स्वतन्त्रता की जरूरत होती है, वैसी स्वतन्त्रता का बोध वे हर माँ-बाप व शिक्षक को देना चाहते हैं। इस पुस्तक का पहला पाठ ही इसका खुलासा करता है। गिजुभाई की चिन्ता व करुणा को प्रकट करता है। वे बहुत दुखी थे विद्यालयों व घरों की स्थितियां देख कर। तभी तो वे इतना तक लिख सके कि 'घर की तुलना में विद्यालय बाल-सृजन का एक बड़ा कतलखाना है।' वे मानते हैं—'सृजन के प्रखर शत्रु हैं दंड, पुरस्कार, परीक्षा और प्रदर्शन।' मगर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि 'सच्चा-सृजन शांति, प्रसन्नता, एकाग्रता, निर्भयता, स्वतन्त्रता एवं स्वयंस्फूर्ति द्वारा प्रकट होता है।' गिजुभाई बालक को ऐसी स्वतन्त्रता, निर्भयता व एकाग्रता के स्वतःस्फूर्त क्षण देने को तरसते रहे और निरन्तर इसकी कामना करते रहे। उनके अपने विद्यालय में जरूर वे रच सके ऐसा खुला आकाश मगर बाकी स्कूलों में कहां संभव था? आज भी कहां संभव है? क्या हम उन सपनों को सच बना सकते हैं? आज भी?

गिजुभाई की इस पुस्तक में बाकी दो अध्याय चित्रकला व संगीत के शिक्षण पर हैं। दोनों ही अध्यायों में गिजुभाई की चित्रकला-दृष्टि व संगीत-दृष्टि की प्रखरता व नवीनता व्यक्त हुई है। इस दृष्टि में ताजगी हैं, इसमें तरलता है, लय है, संगीत है व पारदर्शिता है। उनका अपना अनूठापन है। वे चित्रकला सिखाने की बात करते हैं मगर सीधी रेखा की मार्फत नहीं। वे स्केल व रबर के प्रयोग को प्रोत्साहित नहीं करते बल्कि 'ना' कहते हैं। वे संगीत सिखाना चाहते हैं मगर सरगम के सहारे नहीं। उनको बालकों की अपनी एक नैसर्गिक लय की तलाश है। उनकी निजता से उपजी लय। उसी लय के सहारे संगीत सिखाना चाहते हैं। बिना कुछ आरोपित किये। बिना कुछ थोपे। संपूर्ण आनंद के साथ।

गिजुभाई की यह पुस्तक सचमुच कला संसार में ले जाती है हर पाठक को गिजुभाई के साथ। वे साथ होते हैं मगर पाठक सदा अकेला होता है। अपनी अस्मिता की तलाश करता हुआ, अपने को खोजता हुआ, अपने को पाता हुआ। हर पाठक इस पुस्तक को पढ़ते हुए महसूस करेगा की कला क्या है? सृजन क्या है? चित्रकला क्या है? रेखा क्या है? रंग क्या हैं? आकार क्या हैं? रूप क्या है? रूपाकारों का अपनी निजता से रिश्ता क्या है? अपने दृष्टि-संसार से रिश्ता क्या है? उनको देखने और उकेरने के बीच काल और आकाश का फासला कितना है? उनको रचने का आनंद क्या है? आदि कई प्रश्न हैं जो यह पुस्तक हमें संबोधित करती है। हर पाठक को संबोधित करती है और उसे वहां ले जाती है जहां बालक खड़ा है। जहां खड़ा-खड़ा कला संसार में प्रवेश करना चाहता है। कला को पाना और जीना चाहता है। हमारे सामने, एक अभिभावक या माता-पिता के रूप में या कि एक अध्यापक के रूप में प्रश्न यह है कि हम बालक को कला को पाने व जीने का यह अवसर कितना देना चाहते हैं—कब देना चाहते हैं अथवा क्यों इसमें विलंब कर रहे हैं?

यह पुस्तक गिजुभाई की अनमोल कृति है। हर शिक्षक व माता-पिता के लिए एक अनूठी भेंट। हर घर-विद्यालय के लिए एक अनिवार्य एवं अनुपम कृति।

40/97 स्वर्ण पथ, मानसरोवर —रमेश थानवी
जयपुर 302020

अनुक्रमणिका

1.	बालकों की सृजनात्मक क्षमता की हत्या	15
2.	प्राथमिक शाला में चित्रकला का शिक्षण	27
3.	प्राथमिक शाला में संगीत शिक्षण	76

प्रस्तावना

इस पुस्तक में मैंने यह लिखने का प्रयास किया है कि प्राथमिक शाला में संगीत एवं चित्रकला विषयों की क्या उपयोगिता है और ये प्रवृत्तियाँ कैसे संचालित की जाएँ ।

आज के जमाने में चित्रकला एवं संगीत विषयों की महत्ता का विवेचन करके लोगों के मन में यह बात ठँसाने की आवश्यकता नहीं है कि बाल्यावस्था से ही ये विषय बालकों को दिए जाने चाहिए ।

बौद्धिक विकास के विषय सिखाने से पहले हृदय का विकास करने वाले विषय सिखाए जाने चाहिए, क्योंकि अगर मनुष्य का हृदय विकसित होगा तो उसकी बुद्धि उसे सन्मार्ग पर ले जाएगी ।

संगीत व चित्रकला का ज्ञान प्राप्त करने वाले बालक स्पर्धा, द्वेष, क्लेष-तकरार या मारपीट नहीं करेंगे, अपितु वे सौंदर्य के सात्त्विक उपासक बनेंगे । सौंदर्य की सात्त्विक उपासना ने दुनिया में कभी किसी का अहित नहीं किया । आज जब बुद्धि के अत्यधिक विकास के दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं, तब हृदय के विकास को हमें हर्गिज नहीं भूलना चाहिए, बल्कि नितांत इसी पर ध्यान देना चाहिए ।

प्राथमिक शाला के शिक्षकों में यह भावना जागृत रहे, यही शुभाकांक्षा है ।

7.4.35 —गिजुभाई

बालकों की सृजनात्मक क्षमता की हत्या

कुछ हत्याएँ पीनल कोड की धारा के अधीन नहीं आतीं। उन्हें लेकर कानूनवेत्ताओं को अपराध जैसी कोई चीज नज़र नहीं आती। कानूनवेत्ताओं की न्याय-नीति संबंधी मर्यादाएँ सिर्फ पीनल कोड से बँधी होती हैं। कुछ हत्याएँ समाजशास्त्रियों की दृष्टि में हत्याएँ नहीं होती। जिन हत्याओं को कानूनवेत्ता माफ कर देते हैं उन्हें लेकर समाजशास्त्री लोगों को दंडित करते हैं, फिर भी लोक-रूढ़ियों की वजह से समाजशास्त्रियों की सीमाएँ मर्यादित हैं। नीति-विशारदों के प्रायश्चित्त-अध्याय का आकार बहुत विशाल है, फिर भी अभी उन में सभी तरह के अपराधों का समावेश नहीं होता। जीवनशास्त्र अथवा शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से देखें तो मनुष्य के हाथों कई प्रकार की हत्याएँ होती रहती हैं। शिक्षाशास्त्रियों के पास राज्य, रूढ़ि अथवा धर्म की कोई भी सत्ता नहीं है, इसलिए जीवन के प्रति जो अपराध होते हैं उनके लिए न कोई पीनल कोड है, न कोई उन्हें निंदनीय मानता, न कोई धार्मिक भय है। जीवन के प्रति होने वाला ऐसा एक अपराध है बालक की सृजन-शक्ति की हत्या।

किंतु सृजन का अर्थ क्या है?

नन्हीं-सी कंकरी और गगनचुंबी पहाड़, ओस की नन्हीं-सी बूँद और विशाल महासागर, चींटों-चींटियों से भी छोटे जीव-जंतु और जिराफ व हाथी के समान विशाल काय प्राणी, पैरों तले कुचली जाने वाली घास और ताड़ के समान ऊँचे वन-वृक्ष, प्रखर तेज वाला सूर्य और शीतल किरणों वाला चाँद —ये सभी सामर्थ्य से परिपूर्ण आदि-सृष्टि के सृजन हैं।

सिर पर तारों से जड़ा आकाश, पैरों तले खनिजों से भरी-पूरी धरती, मनमोहक रंग-बिरंगी तितलियाँ और मधुर-कोमल कंठ से गाने वाले भाँत-भाँत के पक्षी, यह समूचा वनस्पति जगत, यह सारा का सारा जीव-जंतु जगत, यह विशाल पशु-पक्षियों की दुनिया, सब के सब एक-एक से अद्‌भुत, एक-एक से सुन्दर—यह

सब सृजनकर्त्ता की सृष्टि है । बर्फीले प्रदेश में रहने वाले हिम-मानव और प्रचंड धूप में रहकर काजल की तरह काले बने अफ्रीकावासी, यूरोप के गोरे लोग, चीन के पीले लोग, नाटे कद के गोरखे और ऊँचे-लंबे पोटेगोनियन—ये सभी एक ही पिता की संतानें हैं, सब के सब उसी के सृजन हैं ।

कथा आती है कि वह एक था । उसने कहा—'मैं एक हूँ, अब अनेक बनना चाहता हूँ—एकोहं बहुस्याम ।' जब उसके मन में अपने अंदर विराजमान समग्र स्वरूप को प्रकट करने का विचार जागा, तभी इस सृष्टि का जन्म हुआ । उसके अंतःकरण में विद्यमान गूढ़ एवं प्रच्छन्न संसार का आविष्कार हुआ अर्थात् इस प्रकृति का निर्माण हुआ ।

जब उसने बाहर निकलकर स्वयं को देखने का विचार किया तो उसे यह ब्रह्मांड दिखाई पड़ा । कहा जाता है कि सृजन करना ब्रह्मा का कर्त्तव्य है अर्थात् स्वभाव है । अपने स्वभाव के अनुसरण में से ही यह सारी लीला प्रकट हुई है ।

यह तो प्रकृति की बात हुई : प्रभु के सृजन की बात हुई । ईश्वर ने मनुष्य का सृजन किया और उसे अपनी सृजन-शक्ति प्रदान की । मनुष्य के सृजन भी मनुष्य की अनंत-शक्ति के समान ही अगणित हैं । इस देश के उपनिषद और भागवत आदि पुराण, कादंबरी और पंचतंत्र, उत्तर रामचरित और मृच्छकटिक, माघ-नैषध व कालिदास; इसी भाँति विदेशों के शेक्सपियर का रोमियो-जूलियट, गेटे का फॉस्ट, दांते व शैली की काव्य-कृतियाँ —ये सब मनुष्य के हृदय से प्रकट हुए सृजन हैं । साहित्य एक सृजन है, चित्रकला दूसरा सृजन है, संगीत तीसरा सृजन है और स्थापत्य चौथा सृजन है । इस तरह गिनने बैठ जाएँ तो मनुष्य के द्वारा बनाई गई अनेकानेक कृतियों को गिनाया जा सकता है ।

इस प्रकार कहना न होगा कि समूचा विश्व प्रकृति के तथा मनुष्य के सृजनों से चारों ओर भरा हुआ है, सुशोभित है ।

वर्षा होती है, नदी-तालाब सब छलाछल भर जाते हैं, धरती हरी साड़ी पहन लेती है, पेड़-पौधे मस्ती से डौलने लगते हैं, पशु-पक्षी कल्लोल करने लगते हैं, सूर्योदय या सूर्यास्त होता है कि पल-पल समूचे आसमान में नए-नए रंग छाये नजर आने लगते हैं, वसंत ऋतु आती है और वनदेवी नव-पल्लवित होती है, फल-फूलों से उसकी गोद भर जाती है, मोर-कोयल कलरव करने लगते हैं, भँवरों-तितलियों के

रंग-बिरंगे पंख फड़फड़ाने लगते हैं—ये सब और ऐसे अन्य अनगिनत प्राकृतिक सृजन प्रकृति के नियमानुसार होते ही रहते हैं और होते ही रहेंगे । इनके स्वतंत्र विकास में न कोई बाधक बनता और न बन ही सकता । इनके लिए न तो कोई सामाजिक रूढ़ि का बंधन है और न धार्मिक बेड़ियों की कोई कैद है । यही कारण है कि प्रकृति के तमाम सृजन नित्य नए, सदैव ताजे, सदैव मोहक और सदैव सरस बने रहते हैं । हाँ, प्रकृति को भी नियंत्रित करने वाले मनुष्य हैं । प्रकृति के वन-वैभव को नष्ट करके रेलगाड़ियाँ चलाने वाले, स्वच्छंद भाव से विचरण करने वाले पशु-पक्षियों को पिंजरों में बंद करके, उनको हंटर जमा कर सरकस के खेल दिखाने वाले लोग यहाँ मौजूद हैं । प्रकृति को तिजारत का साधन बनाने वाले जड़वादी लोगों से यदि प्रकृति देवी भयभीत न हो उठे, तो कैसा आश्चर्य ! लेकिन अभी तक प्रकृति की हत्या नहीं हो सकी है, न हो सकेगी । प्रकृति के प्राण बड़े ही प्रबल हैं । लेकिन मनुष्य द्वारा किए गए सृजन का हनन लंबे समय से होता चला आ रहा है और होता ही रहता है । जब-जब भी मनुष्य ने अपने सृजन के हनन के खिलाफ बगावत की है, तब-तब स्वयं मनुष्य का हनन हुआ है । इतिहास ऐसे उदाहरणों से अटा पड़ा है । हनन का यह काम हमारी संस्थाएँ करती हैं, रूढ़ियों की गुलामी में फँसा हमारा समाज करता है, जड़वत बने हमारे शास्त्र करते हैं, सिर्फ परिणाम देखने वाली हमारी शिक्षण-संस्थाएँ करती हैं तथा अज्ञान के अंधकार में निमग्न हमारे घर-परिवार करते हैं । लगता है मानो इन सब ने मानवीय आत्मा के आविर्भाव को कुंठित करने का सामूहिक प्रयत्न किया है और नई-नई सोची-समझी कार्यवाही की है । इसके बावजूद कई बीज ऐसे होते हैं जो पत्थर को तोड़कर फूट निकलते हैं और प्रबल आँधी-तूफान में भी स्थिर बने रहते हैं, इसी प्रकार कुछ प्रबल आत्माओं ने उपर्युक्त संस्थाओं के संकीर्ण तट-बंधों को तोड़कर सृजन के सागर को उछाला है और उसमें से भाँति-भाँति के कलात्मक मोतियों का बहुमूल्य उपहार मानव-जाति को प्रदान किया है । इसके विपरीत जहाँ-जहाँ बंधनों में जकड़े हुए गुलाम मनुष्य ने सृजन कार्य किया है, वहाँ-वहाँ वह सृजन रुग्ण एवं विकृत बना है, उसने मनुष्य को ऊपर उठाने के बजाय नीचे गिराया है, वहाँ-वहाँ उस सृजन का, सृजनकर्त्ता और सिरजनहार का अपमान ही हुआ है । इसके दृष्टांत हैं ये अनाथालय, कलाकारों की निर्माल्य कृतियाँ, कवियों की उदरपूर्ति वाली हताश काव्य कृतियाँ, ये संगीत की मजलिसें, नाट्य मंच, मासिक पत्र-पत्रिकाएँ और प्रदर्शनियाँ आदि ।

अपने ही विचारों का आग्रह रखने वाला मनुष्य अपनी भावी पीढ़ी को अपनी शक्ति तथा अपने ज्ञान की विरासत सौंपने में अपना धर्म और अभिमान समझता है। वही इस बात का निर्णय भी करता है कि बालकों को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। वस्तुतः इस निर्णय में ही बालक की सृजन-शक्ति का हनन छिपा है।

: 2 :

घर और विद्यालय दो ऐसे स्थल हैं जहाँ बालकों की सृजनशीलता का सहज स्वाभाविक रीति से विकास होता है और यही वे स्थल हैं जहाँ उनके सृजन को रोकने, विकृत करने अथवा निर्मूल करने का काम होता है।

जो लोग अपनी आँखों को खुला रखकर देखते हैं उन्होंने देखा होगा कि बालक धूल में लकीरें खींच रहा है, वर्षा ऋतु में गीली मिट्टी से लड्डू साँध रहा है, मिट्टी से पकौड़े अथवा चकला-बेलन बना रहा है, गीली मिट्टी की ढेरी में पैर डालकर मकान बना रहा है अथवा माटी की दीवार बना कर वर्षा के पानी को रोक रहा है अथवा पत्थरों व गारे से छोटा-सा मकान बना रहा है। उन्होंने देखा होगा कि सरकंडे के गूदे से बालक बैलगाड़ी अथवा खाट बना रहा है, जमीन पर बिखरे पानी या दूध में उँगली डाल कर चित्र बना रहा है, कहीं आटे से भरी परात में हाथों की छाप अंकित कर रहा है या तरह-तरह की डिजाइनें बना रहा है, यदि माँ ने चावल निकाल रखे हैं तो उन्होंने बालक को उसमें गड्ढा बनाकर रंगोली या गोलाकृति बनाते देखा होगा। कहीं बालक हाथ में आई पेंसिल से कागज पर या कोयले से दीवार पर टेढ़ी-तिरछी लकीरें बना रहा है, कहीं कैंची से अपने या दूसरों के बाल काट रहा है अथवा कागजों या कपड़ों के टुकड़े काट-काट कर तरह-तरह की नई आकृतियाँ बना रहा है, तो कहीं बेली हुई रोटी पर कटोरी या गिलास रखकर उसकी मदद से नई-नई ज्यॉमितिक आकृतियाँ बना रहा है।

यदि आँखें हैं तो उन्होंने बालक को अपने छोटे-छोटे हाथ-पैर हिलाते, तालियाँ बजाते या नाचते-कूदते देखा होगा। अवश्य ही उन्होंने बालक को कभी फूलों की साज-सजावट करते, कभी घर के बर्तनों को सजा-सजा कर रखते, कभी पिताजी की किताबों को सिलसिले से रखते, तो कभी घर में आए मेहमानों के जूते एक कतार में रखते देखा होगा। उन्होंने प्रायः देखा होगा कि बालक अपनी परछाँई पर खड़ा होकर अपनी नकल किया करता है या फिर दूसरों की नकल उतारता है।

यदि हमने गौर किया है तो अवश्य ही नन्हें बालक को बर्तन गिरा कर उसकी ध्वनि पहचानने, दरवाजे की साँकल खटखटा कर, घंटी बजाकर अथवा ढोल-झाँझर बजाकर उनको ध्वनि-संगीत सुनने की कोशिश में लीन देखा होगा। आपने देखा होगा कि बालक किसी अलमारी पर बारबार अपने हाथों की थाप देता रहता है या खाली झूले को घंटों झुलाता है या खाट पर बैठकर अपने पैर हिलाते-हिलाते एक प्रकार की ताल का अनुभव करता है। हमने छोटे बच्चों को हँसते हुए आपस में मिलकर एक-दूसरे को प्रेम-चुम्बनों से नहलाते तथा निर्व्याज प्रेम का अनुभव करते देखा होगा। हमारे लिए ऐसे बालक नितांत अपरिचित-अनजान नहीं होते, जो दिन-दिन भर कोई एक शब्द गुनगुनाते फिरते रहते हैं अथवा किसी कहानी की तुकबंदी को कई-कई दिनों तक याद कर करके रटते रहते हैं, अथवा जो कभी आसमान के नीचे लेटे-लेटे गगन-विहारी बालकाव्य की रचना करते हैं या गर्मियों की किसी दोपहरी में अर्द्ध-जाग्रत, अर्द्ध-निद्रित अवस्था में जो प्रकृति की या मनुष्य की कृति की छाप पर से अथवा घर-बाहर के अनुभवों से रंग-बिरंगे सपनों की रचना करते रहते हैं।

बालक की ये तमाम कृतियाँ बाल-सृजन के व्यक्त-अव्यक्त, स्पष्ट-अस्पष्ट छोटे, लेकिन सादे व सुंदर नमूने हैं। इनमें कहीं संगीत है, कहीं साहित्य है तो कहीं कला है। स्थापत्य और शिल्प के बीज भी इनमें हैं। कदाचित किसी चित्रकार को बालक की इन छोटी-छोटी रेखाओं में समय तथा साधनों का अपव्यय नजर आए, कदाचित किसी गवैये को बालक का गायन कर्णकटु और बेसुरा लगे; कदाचित किसी नामी साहित्यकार की दृष्टि से बालक की नन्हीं कली-सी खिलती वाणी व्यर्थ का प्रलाप मात्र हो। यदि ऐसा लगता है तो भले ही लगे। लेकिन जो व्यक्ति बाल-मन के गहन-गंभीर प्रदेश से सुपरिचित है, जिसने बालक के विकास को एक-एक डग अपनी नजरों से देखा है, उसे पूर्ण विश्वास है कि इन्हीं रेखाओं के पीछे भावी चित्रकार खड़ा है, गारे-पत्थर के नन्हें मकानों के पीछे किसी वास्तुकला-विशारद की आत्मा विद्यमान है, गारे के बने छोटे-छोटे साँचों में मोम की पुतलियाँ बनाने वाला या संगमरमर का अद्‌भुत शिल्प रचने वाला कोई समर्थ शिल्पी छिपा है; छोटी-छोटी इल्लियों को संग्रहीत करने वाला या तितलियों के पंखों और उनके सुंदर रंगों को देखने वाला या तो कोई चित्रकार है या कोई शोधकर्ता है

या विश्व-प्रेमी है। ऐसा व्यक्ति छोटे-छोटे दो पत्तियों वाले आम के नन्हें पौधे में किसी माली की भाँति आम के दर्शन करता है, एक ग्वाले की छोटी-सी बछिया में दूध-दही-घी के दर्शन करता है। इसी तरह वह व्यक्ति भी बालकों के छोटे-छोटे सृजन में कला की विश्वविख्यात कृतियों के —पोम्पई के स्तंभों, ताजमहल के सौंदर्य, रैफेल व अवनीन्द्रनाथ की चित्रकृतियों, टेगौर की गीतांजली अथवा टाल-स्टाय की लघु-कथाओं के दर्शन करेगा।

लेकिन यह सब वही कर सकता है जिसके पास बालकों के इस वैविध्यपूर्ण सृजन को देखने-समझने की दृष्टि हो। ऐसे ही लोग बाल-सृजन का सम्मान करते हैं, उनमें रस का संचार करते हैं, उनकी सामग्री को समृद्ध बनाते हैं तथा उन्हें प्रोत्साहित करते हैं।

पर जरा हम अपने घरों में थोड़ा झाँककर तो देखें और इस बात की छान-बीन तो करें कि वहाँ बाल-सृजन की क्या दशा है! आप किसी भी घर में जाकर देखेंगे तो वहाँ आपको कुछ इस तरह की बातें सुनने को मिलेंगी : 'हाय हाय, अरे ओ नासपीटे! तूने गूँदे हुए आटे का यह चूहा क्यों बनाया है? क्या यह किसी मुसलमान का घर है? ब्राह्मण के घर में तेरे जैसा यह काफिर कहाँ से पैदा हो गया?' 'मुए! अब तो तू चुप हो जा। बहुत राग अलाप लिया। मेरा तो सिर दुखने लगा है। बड़ा गवैया बन गया है।' 'अबे गधे! तूने यह दीवार क्यों काली कर डाली? बस, कोयला हाथ आया नहीं कि तूने रेलगाड़ी, पुल और नदियाँ बनाई नहीं! याद रख, इनसे पेट नहीं भरेगा और तू भूखा मरेगा, भूखा!'

आप किसी दूसरे घर के पास से निकलेंगे तो वहाँ आप देखेंगे कि बेटे ने पिता की स्याही से अपना मुँह रंग लिया है और मूँछें बना ली हैं। बाप बेटे को चाँटा जमाते हुए कह रहा है : 'बोल, फिर कभी करेगा ऐसे? कहने दे तेरे मास्टरजीसे।'

किसी बालिका को अपने मन की मौज में नाचते या हाथों-पैरों से अभ्यास करते देखकर उसकी माँ उससे कह रही होगी : 'अरी ओ अभागिन! तू जरा इधर मर! अभी धुनती हूँ तेरी पीठ। ये नखरे यहाँ नहीं चलेंगे। ये तो नायकों के लच्छन हैं।'

कोई बालक अपने भीतर की नाट्यवृत्ति को व्यक्त करने के लिए पक्षियों जैसी आवाज निकालेगा अथवा किसी के हावभाव की अनुकृति कर रहा होगा कि

माँ उससे कह रही होगी : 'तू बड़ा नौटंकी बन रहा है। याद रख, अगर तूने किसी की नकल उतारी तो पिटाई कर दूँगी।'

बालक-बालिकाओं की इच्छा होती है कि मिलकर साथ-साथ खेलें। वे सहजीवन की पहली सीढ़ी पर चढ़ना चाहते हैं। प्रेम की दुनिया के अव्यक्त अनुभवों को अपने अनुभवों की सीमा में लाने का प्रारंभ करते हैं, तभी खिड़की में से झाँककर माँ डपट भरी आवाज में कहती है : 'अबे ओ नादीदे! उधर कहाँ जा रहा है, लड़कियों के संग खेलने?' दूसरी तरफ से लड़कियों को माँ कहेगी : 'भला इन लड़कों के साथ तुम कैसे खेल सकती हो? वे ठहरे लड़के!'

मान लें कि घर में कोई नन्हा बालक है। बड़ी बहन की इच्छा है कि छोटे भाई को खेलाए। भाई के प्यार में पगी बहन अपने छोटे भाई को गोदी में लेकर सीने से दबाती हुई उसे चूमने लगती है कि तभी माँ गरजती हुई आकर कहती है : 'अरी ओ अभागिन! क्या तू इसे मार डालना चाहती है? हाथ में से छूट जायेगा तो? नीचे लिटा दे इसे!'

पिता भी माँ से कुछ कम नहीं। उन्हें देखते ही बच्चे सहसा सहम जाते हैं, किसी कोने में छिपकर बैठ जाते हैं। माँ चाहे जितनी मारपीट क्यों न करती हो, पर बालक उसकी गोद में जाकर छिप जाते हैं। भला ऐसे पिता के साये में सृजन कैसे संभव है? यदि स्याही से हाथ गंदे हो गये या पेंसिल से दीवार पर लकीरें खींच दी तो पिता कहेंगे 'चल, रख दे यह सब एक तरफ। सबक याद करने बैठ।' सृजन की ऐसी हत्या के अनेकानेक उदाहरण हैं, तभी तो आज की हमारी मामूली-सी कला, निष्प्राण-सा साहित्य और रसविहीन नाट्य-प्रयोग हमारी आँखों के ही सामने होली की तरह धू-धू करके जलते हैं। इन सब के उपरांत हमें आशा है कि कोई ऐसा बिरला पिता प्रकट होगा जो अपने बालक के प्रत्येक बोल में साहित्य रूपी अमृत के दर्शन करेगा, उस अमृत का पान करेगा और उसका पोषण करने वाला बनेगा, आशा है कि कोई ऐसा कला-रसिक पिता मिल जायेगा, जो अपने बालक को मूँछें बनाने के लिए रंग लाकर देगा अथवा कपड़ों के टुकड़ों को रँगने के लिए तरह-तरह के रंगों की व्यवस्था कर देगा और रंग-बिरंगी खड़िया मिट्टी लाकर दिया करेगा, अवश्य ही कोई ऐसी उदार माँ मिल जाएगी जो बालक को हल्दी, हींग, नमक, मिर्च इकट्ठे करने देगी और उनसे रंग बनाने के प्रयोग करने

देगी; आशा है कोई ऐसी कला रसिक माँ भी होगी, जो गारे-माटी लगने से अधिक सुंदर बने अपने बालक को ललक के साथ उठाकर उसको चूमेगी और खड़िया-मिट्टी से या पेंसिल से बालक द्वारा बनाई गई आड़ी-टेढ़ी रेखाओं को सँभाल कर अपनी तिजोरी में रखेगी और किसी चित्रकार को अपने घर आया देखकर उससे कहेगी : 'देखिए, ये चित्र मेरी इस पागल बेटी ने बनाए हैं।' अथवा कोई ऐसी अलबेली माँ भी मिल जाएगी जो दूर बैठी अपनी मनमौजी पुत्री की हलचलों का आनंद लेती होगी। पुत्री किसी चट्टान के पास लेटी-लेटी आकाश के तारों को और उड़ते हुए पक्षियों को देखकर किसी सही-गलत काव्य-अकाव्य की रचना में लीन होगी और माँ दूर बैठी उसके शब्दों को लिख लेती होगी और उस पर अपने भाष्य की रचना का आनंद लूटती होगी। पर यह तो अपवाद होगा —खारे समुद्र में मीठे पानी की धारा की भाँति।

: 3 :

अब जरा हम यह देखें कि शालाओं में बालकों के सृजन का हनन किस तरह से होता है। घर की तुलना में विद्यालय बाल-सृजन का एक बड़ा कतलखाना है। घर में बालकों को जो आजादी मिलती है, वैसी विद्यालयों में कत्तई नहीं होती। विद्यालय कहता है : 'बस, लिखो, पढ़ो, गिनो, इतिहास याद करो, भूगोल रटो, संगीत रटो, चित्र रटो।' भला इसमें सृजन कहाँ है? जहाँ बिना अर्थ समझे, बिना रुचि के, बिना अनुभव के महज रटना ही रटना हो, वहाँ साहित्य संगीत और कला का शिक्षण निष्फल ही होता है। ऐसे में कला का सृजन सर्वथा असंभव है। कला का मूल गहन व तीव्र अनुभूति में निहित है। जब कोमल-कठोर, कड़वी-मीठी, तीव्र-मंद भावनाएँ कभी-कभार आपस में टकराकर झनझना उठती हैं, तब कला का जन्म होता है। कला जीवन-मंथन से प्रकट होती है, वह समूचे जीवन का निष्कर्ष होती है। कला तो जीवन-सौंदर्य का परिमल है। ऐसी कला का सृजन वहाँ कैसे हो सकता है जहाँ मात्र रटने ही रटने का शिक्षण दिया जाता हो?

जब बालक अपने घरों के अनुभव बड़े ही उत्साह के साथ अपने साथियों को सुनाने लगते हैं, जैसे 'आज हमारे घर में यह हुआ और वह हुआ', 'हमने तो आज लड्डू खाए', 'आज हमारे घर में एक नया भाई आया है, उसकी हथेलियाँ रेशम जैसी मुलायम-मुलायम और गुलाबी हैं', 'मुन्नी तो अब घर में दौड़ने-फिरने

लगी है और वह सबको चूमती रहती है' आदि-आदि, कि तभी मास्टरजी भौंहे ताने मुँह बिगाड़कर बोल उठते हैं : 'ऐ, चलो पहाड़े लिखो', या 'मैं बोलता हूँ तुम लिखो—'परोसा,' 'भट्ठी' या 'लिखो —एक लड़के के दो कान हैं तो दस लड़कों के कितने कान हुए?' अथवा शिक्षक बोलते हैं :

हे ईश्वर रटते तुम्हें
बड़ा तुम्हारा नाम।
गाते हरदम गुण तेरे
पूरण करना काम।।

बालक को विद्यालय की चहारदीवारी में बंद कर देने के बाद उसकी कक्षा की एकाध खिड़की यदि सौभाग्यवश खुली रह गई हो और उसके द्वारा बालक को उदार प्रकृति का अपूर्व दर्शन सहज होता रहता हो तो अध्यापकजी इस डर से कि कहीं बालक का ध्यान कक्षा की पढ़ाई से हट न जाए, उस खिड़की को ही बंद करवा देते हैं।

हम बालक को वर्तनी का तथा संयुक्ताक्षरों का पक्का अभ्यास करा देते हैं। व्याकरण में एक भी गलती न हो, इसके लिए हम बालक के और अपने खून का पानी करते हैं। वर्ष के अंत तक वही की वही पुरानी तीन कहानियाँ बार-बार भौंडी रीति से बालकों को सुनाते रहते हैं और परीक्षा या प्रदर्शन के समय उन्हीं कहानियों को बालकों के पेट से निकलवा लेते हैं। तोते की तरह उन्हें कविता रटाते हैं और फिर एक डॉक्टर की तरह बेदर्दी से व्याकरण, पृथक्करण, पिंगल, व्युत्पत्ति आदि औजारों के द्वारा चीरफाड़ करके बालकों की धज्जियाँ उड़ा देते हैं। इसी को हम भाषा व साहित्य का अध्ययन करना कहते हैं। इसी से हम बालकों से साहित्य के क्षेत्र में नई रचनाओं और नए सृजन की अपेक्षा रखते हैं।

चित्रकला और संगीत का स्थान तो बालकों के शिक्षण में बहुत ही अल्प होता है। सीधी रेखा द्वारा चित्रकला का और सारेगम से संगीत की शिक्षा का आरंभ करना ठीक वैसा ही है जैसे मृत देह से जीवन का आरंभ करना।

जिस विद्यालय की दीवारों पर जाले लटक रहे हैं या झाड़-झंखाड़ खड़े हैं, जिसकी दीवारों पर अगर कुछ टंगा भी है तो शायद कोई फटा पुराना एकाध चित्र, दीवारों का पलस्तर उखड़ा हुआ है, जगह-जगह गड्ढे बन गए हैं, जहाँ पानी पीने

के बरतन न माँजे जाने से काले और गंदे हो गये हैं, अथवा जिस विद्यालय के आसपास सब्जी मंडी के जैसा शोर मचा रहता है, सड़क पर होने वाली कहा-सुनी और तकरार की आवाजें जहाँ बालकों के कानों में सहज ही पड़ती रहती हैं; जहाँ बालक खड़े-खड़े या तो गली-कूचों की गंदगी देखते हैं या मोटरों-ट्राम-गाड़ियों की दौड़-भाग देखते हैं या नगरपालिका की कचरा-गाड़ी को देखते रहते हैं, अथवा जिस विद्यालय में सभी बालकों के बैठने लायक पर्याप्त स्थान न होने से गंदे व बदबू भरे बालक आपस में एक-दूसरे की गंदगी को बढ़ाते हैं, जहाँ शिक्षकों की गंदी पोशाकें और उनके गंदे चेहरे उस गंदगी में वृद्धि करते हैं, जहाँ विद्यालय की टूटी बेंचें, बेकार पड़े श्यामपट्ट, सड़े हुए डस्टर, बालकों और अध्यापकों के बेतरतीब बिखरे जूते विद्यालय की शोभा को नाना प्रकार से बढ़ाते रहते हैं, उस विद्यालय में संगीत अथवा शिल्पकला की आत्मा किस प्रकार विकसित हो सकती है? वहाँ नूतन सृजन कैसे संभव है?

सृजन कार्य न पाठ्यक्रम के अधीन है, न किसी समय-विभाग-चक्र के। गणित में मन न लगने पर यदि कोई बालक सवाल हल करने के बजाय अपनी पट्टी पर चित्र बनाए और संयोगवश शिक्षक उसका चित्र देख ले तो आप सोच लीजिए कि उस बालक को अपने सृजन-कार्य की कितनी भारी कीमत चुकानी पड़ेगी? उसके गाल पर एक तमाचा पड़ेगा, पट्टी का प्रहार होगा और गणित के श्यामपट्ट के समक्ष गंभीर चेहरा बनाकर स्थिर खड़ा होना पड़ेगा। कक्षा में व्याकरण की पढ़ाई के चलते यदि किसी बालक के दिल में कभी घर पर सुने किसी गीत की कड़ी गुनगुनाने की लहर आ जाए और वह गुनगुना उठे तो उसे तत्काल सुनने को मिलेगा : 'ऐ, चुप! कौन गड़बड़ कर रहा है? इधर आ। बड़ा गवैया आया है। गाना ही है तो अपने घर जाकर गा, तुम यहाँ गाने के लिए नहीं आए हो, समझे!' यदि कोई शिक्षक बालकों को कक्षा में कपड़े के टुकड़े से गोला, हरिण या खरगोश बनाते, कागज से नाव, टोपियाँ या दवात बनाते, किसी डोरी से मोर का पंजा बनाते देख ले तो क्या वह उन्हें 'प्रसाद' दिए बिना रहेगा? बालकों को प्रकृति के प्रांगण में ले जाने, वहाँ उनको प्रकृति की गोद में घंटों लोटने देने, बंदरों की भाँति पेड़-पेड़ पर चढ़ने व कूदने देने, कलकल बहती नदी के किनारे ले जाकर उन्हें अपनी अंजलियों से जी भर कर पानी पीने देने, जंगली फूलों को तोड़कर उनकी

मालाएँ बनाने, रेशों से रस्सी बँटने और ऐसे ही भाँत-भाँत के काम करने देने की व्यवस्था क्या आज के पाठ्यक्रम में है? यदि नहीं है तो बालकों के सृजन का प्रश्न किससे पूछा जाए?

कुछ शालाओं में बालकों के लिए सृजनात्मक विषयों की सामग्री इकट्ठी की जाती है। वहाँ बालकों को बंगला बनाते, चटाई गूँथते, रंग भरते, कागज काटते या सिलाई-कढाई का काम करते देखते हैं। वहाँ के शिक्षकों को हम बालकों के साथ अनेक प्रकार के काम करते देखते हैं। वे उन्हें कहानियाँ सुनाते हैं, गीत गवाते हैं, वे उनके साथ नाचते, कूदते, खेलते और हँसते-हँसाते हैं। वहाँ हमको छोटे-छोटे बाल-संग्रहालय देखने को मिलेंगे। सुंदर-सुंदर खिलौने मिलेंगे, तरह-तरह की गुड़ियाएँ गुड्डे मिलेंगे। पर साथ ही साथ ऐसी शालाओं के सृजनात्मक वातावरण में हमें लालच और इनाम के बनावटी रस की बू अवश्य आएगी।

शिक्षक के अनुकरण में सृजन नहीं है, सृजन नकल में नहीं है। बनावटी उत्साह के नशे में किया गया सृजन सच्चा सृजन नहीं कहलाता। जब आंतरिक उमंग से, मानो अंतर को ही खाली करने या व्यक्त करने के लिए जहाँ अन्तर स्वयं प्रकट हो जाता है, वही सृजन कहलाता है। इस प्रकार का सृजन काव्य के, संगीत के, चित्र के अथवा किसी भी ललित कला के माध्यम से हो सकता है। सृजन स्वतंत्रता की देन है। जब सृजन स्वयं-स्फूर्त होता है, जब सृजन स्वानुभव से उपजता है, जब सृजन आत्मसाक्षात्कार के लिए होता है, तभी वह सच्चा सृजन कहलाता है। जो विद्यालय ऐसे सृजन की व्यवस्था करता है, वह सच्चा विद्यालय है। इससे भिन्न दूसरे विद्यालयों को तो मैं कतलखाने ही कहूँगा। जब तक हमारे विद्यालय ऐसे सृजन के लिए वांछित सभी प्रकार की व्यवस्था नहीं कर लेते, तब तक उन्हें अपना अस्तित्व बनाये रखने का कोई अधिकार नहीं है।

: 4 :

उपर्युक्त विवेचन से जाहिर है कि आज के हमारे विद्यालय सृजन के कितने विरोधी हैं?

सच्चा सृजन शांति, प्रसन्नता, एकाग्रता, निर्भयता, स्वतंत्रता एवं स्वयंस्फूर्ति द्वारा प्रकट होता है। घरों, शालाओं अथवा समग्र जीवन में जहाँ इन चीजों का

अभाव होगा, वहाँ सच्चे सृजन को लेकर संशय ही बना रहेगा। हमारी वर्तमान कलाकृतियों की दरिद्रता तथा हमारी ह्रासमान रसिकता इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हम स्वाभाविक सृजनात्मक कार्यों की दृष्टि से आज कहाँ हैं? यदि हम अपने समग्र जीवन पर दृष्टि डालकर देखें तो ज्ञात होगा कि हमारा जीवन सत्य से कितनी दूर चला जा रहा है। ऐसे में असत्यजीवी जनता के जीवन में से सत्य-स्वरूप सृजन कैसे संभव है?

सृजन के प्रखर शत्रु हैं दंड, पुरस्कार, परीक्षा और प्रदर्शन। दंड के भय से या तो आदमी छिपकर सृजन करता है या फिर सृजन की उसकी प्रेरणा, उसका प्राण भय के मारे विलुप्त हो जाता है। छिपे हुए अथवा विकृत सृजन के उदाहरण स्वरूप आज हमारे सामने जेलखाने, दवाखाने, पागलखाने खड़े हैं। पुरस्कार और स्पर्धा के कारण उत्पन्न हुए स्वार्थपरायण व्यापार-धंधे, युद्ध तथा राजनीति हमारे समक्ष मौजूद ही हैं। हम जगह-जगह देख रहे हैं कि एक तरफ परीक्षा के कारण बहिर्मुख बना मनुष्य कितना छिछला, दंभी, ढोंगी तथा ठग बन चुका है और वह कितना मिथ्याभिमानी व अहंकारी बन चुका है। दूसरी तरफ हम यह भी देखते हैं कि वही मनुष्य कितना हताश, निरुत्साह, अपनी ही आत्मा का अपमान करने वाला तथा जीवन-रस से विहीन बन चुका है। प्रदर्शनों ने हमें परजीवी, खुशामदी और गुलाम बना डाला है। आज के हमारे कई रंगमंच, सरकस, संगीत-सम्मेलन और नृत्यांगनाओं के नाच ऐसे ही प्रदर्शनों के प्रतिफल हैं। उपर्युक्त चार कारणों से मनुष्य की आत्मा के सृजन या तो विकृत होते जा रहे हैं या लुप्त हो रहे हैं। यदि हमारे घर और विद्यालय बालकों को इन बुराइयों से बचा सकें तो सच्चे सृजन की आशा की जा सकती है अन्यथा बालकों के तथा समूची जनता के सृजन पर तलवार तो लटक ही रही है। ❑

प्राथमिक शाला में चित्रकला का शिक्षण

वर्षों पूर्व जिन दिनों मैं एक सरकारी प्राथमिक शाला में पढ़ता था, उन दिनों हमारे पाठ्यक्रम में चित्रकला विषय नहीं था। सातवीं कक्षा में मानचित्र बनाने का काम था, मात्र उसी को चित्रकला में शामिल कर लें तो कहा जा सकता है कि हमें चित्रकला सिखाई जाती थी।

जब से मैं प्राथमिक शालाओं को शिक्षण की दृष्टि से देखने लगा हूँ तब से मैंने बराबर इस बात पर नजर रखी है कि प्राथमिक शाला में यह विषय है या नहीं। साधारण तौर पर इस विषय का अभाव ही देखने में आया है, फिर भी सरकारी विद्यालयों में कहीं-कहीं निचली कक्षाओं में चित्रकला विषय देखने को मिलाहै।

इन कक्षाओं में चित्रकला विषय का स्वरूप कुछ इस प्रकार का होता है।

कई जगहों पर अध्यापकजी श्यामपट्ट पर बाल्टी, निसैनी, कंघा, घड़ी, गैंद आदि साधारण चीजों के चित्र बना देते हैं। विद्यार्थियों से कहा जाता है कि उन चित्रों को देखकर वैसे के वैसे चित्र अपनी पट्टी पर बनायें।

किसी विद्यालय में चित्रकला के अभ्यासक्रम की पुस्तकें भी देखने में आती हैं। इन पुस्तकों का यह दावा रहता है कि वे क्रमिक रीति से चित्रकला के शिक्षण में मददगार हो सकती हैं। पुस्तक विक्रेता ही उन पुस्तकों के निर्माता हैं। शिक्षा विभाग उन्हें विद्यालयों में उपयोग के लिए स्वीकृत करता है। पुस्तकों को देखते ही पता लग जाता है कि वे कक्षावार तैयार कराई गई हैं।

वे पुस्तकें बालकों को खरीदनी होती हैं। उनमें छपे हुए चित्रों को देख-देखकर बालकों को अपनी पट्टी पर बनाना होता है। कई बार उन पुस्तकों में ही रंग भरना पड़ता है। कुछ चित्रों में यह निर्देश भी मुद्रित होता है कि कहाँ-कहाँ कौन-कौनसे रंग भरे जाएँ।

कुछ बढ़िया प्राइवेट स्कूलों में सचित्र पुस्तकें तो होती हैं, चित्रों के कार्ड

भी होते हैं, जिनमें विद्यार्थियों द्वारा रंग भरवाया जाता है । कुछ खर्चीले विद्यालयों में चित्रकला अध्यापक भी नियुक्त होता है । ये अध्यापक अपने विद्यार्थियों को उसी तरह से चित्र बनाना सिखाते हैं, जिस तरह से प्राचीन शैली के चित्रकार अपने पास आने वाले छात्रों को सिखाते हैं ।

इस प्रकार दी जाने वाली चित्रकला-शिक्षा वास्तविक चित्रकला-शिक्षा नहीं है । इसमें विद्यार्थी चित्र नहीं बनाते । कहीं पर वे मात्र अनुकरण करते हैं, कहीं पर वे सिर्फ रंग भरते हैं, कहीं पर वे चित्रकार के बताये अनुसार चित्र खींचने की कुंजी जानकर उसी रीति से चित्र बनाते हैं । ऐसा करने से विद्यार्थी की चित्र बनाने की वृत्ति को गति नहीं मिल पाती । सिर्फ परीक्षा के लिए या फिर शोभा के लिए विद्यार्थी अमुक-अमुक चित्र बनाते हैं । इसमें न तो विद्यार्थियों का शौक प्रतिबिम्बित होता, न उन्हें उस विषय की तैयारी में सिद्धहस्त बनने का अवसर मिल पाता । परिणामस्वरूप इस प्रकार का चित्रकला-शिक्षण शायद ही किसी को चित्रकारी की दिशा में ले जाए !

कुछ किंडरगार्टन शालाओं में चित्रकला विषय पढाया जाता है, पर वहाँ भी इस विषय का शिक्षण ऊपर की भाँति यंत्रवत रहता है । बालकों में चित्रकारी करने-सीखने की एक लहर-सी आती है और कुछ समय के लिए उन्हें कुछ करने-धरने को मिलता भी है, लेकिन चित्रकला के प्रति उनमें रुचि नहीं बन पाती । यह संभव है कि किसी बालक का चित्रकार-मन इन प्रयासों से शिक्षक की नजर में चढ़ जाए और शिक्षक उसे आगे बढ़ाने के लिए कोई खास योजना बनाये या बनवाये !

किंडरगार्टन शालाओं में प्रारंभिक कक्षाओं में ही चित्रकला चले तो चले, जैसे-जैसे आगे बढते हैं वैसे-वैसे यह काम कम होता जाता है अर्थात् चित्रकला को समुचित स्थान नहीं दिया जाता । जब तक छोटे बालकों को गणित आदि कठिन विषय अधिक समय तक पढ़ाया जाना शुरू नहीं होता, तब तक भले ही बालक चित्रकला विषय में कुछ टेढ़ी-तिरछी रेखाएँ खींचें या रंग बिगाड़ें । ऐसी उदार मान्यता की वजह से जहाँ-तहाँ थोड़ी बहुत चित्रकला की पढाई चलती है या चलाई जातीहै ।

इसके विपरीत नूतन शिक्षण प्रणाली के अनुसार चलाये जाने वाले बाल मंदिरों में चित्रकला विषय को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है, यही नहीं, वहाँ के

बालकों के लिए चित्रकला एक अत्यंत प्रिय विषय बन जाता है। यह बात प्रयोगों के द्वारा सिद्ध हो चुकी है कि बाल-शिक्षण में चित्रकला विषय बहुत जरूरी और महत्त्वपूर्ण है। बाल मंदिरों ने बालकों में विद्यमान स्वाभाविक आंतरिक शक्ति को विकसित करने के लिए इस विषय को अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और बालकों को इस विषय के द्वारा बड़े अच्छे परिणाम मिले हैं।

बाल मंदिर में किये गये अपने प्रयोग के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि बालक हजारों चित्र बनाने में सक्षम हैं। चित्रों के माध्यम से बालक अपने रंगों और रंगों के अवलोकनों, उनके संबंध में अपनी पसंद-नापसंद, अपनी सुरुचि और संस्कारिता सुस्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं। उसके द्वारा वे अपनी सर्जनात्मक वृत्ति को आगे बढ़ाते हुए संतोषपूर्वक सर्जक बनने के साथ-साथ कलाकार बनने के मार्ग पर चलने लगते हैं। बाल मंदिर में हजारों चित्रों का संग्रह है। वे चित्र बालकों की चित्र-प्रस्तुति तथा उनकी पृष्ठभूमि में विद्यमान उनके मन के संबंध में अद्‌भुत और नयी-नयी बातें कहते हैं। वस्तुतः उन चित्रों के विवेचन-विश्लेषण के लिए अलग से ही एक सचित्र पुस्तक प्रकाशित किये जाने की जरूरत है।

पर अपने प्रयोगों के द्वारा मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि विद्यार्थियों के जीवन में चित्रों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। उनके ज्ञान के विस्तार और उनकी कला दृष्टि की व्यापकता एवं विशिष्टता के लिए चित्रों का ज्ञान बहुत महत्त्व रखता है। अपने प्रयोग के आधार पर मैं बताना चाहता हूँ कि प्रत्येक विद्यार्थी को जिस प्रकार भाषा, इतिहास व गणित आदि विषयों का ज्ञान पहले से ही दिया जाता है, उसी प्रकार चित्रकला का ज्ञान भी पहले से ही दिया जाना चाहिए। भाषा का ज्ञान वाङ्मय की आधारभित्ति माना जाता है, ठीक वैसे ही चित्रकला का ज्ञान लगभग सभी कलाओं की बुनियाद है।

चित्रकारी अर्थात् स्थल व काल के साथ दृश्य-जगत को रंग-रेखाओं के माध्यम से अपने यथार्थ रूप में फलक पर प्रस्तुत करना। यह फलक अंतरिक्ष, भूमि, पत्थर, लकड़ी, धातु, कपड़ा, कागज आदि-आदि बन सकते हैं। इन समस्त फलकों पर रेखाओं एवं रंगों की मदद से प्रतीत होने वाला सौंदर्य ही चित्र है। चित्रकला में अनेक प्रकार की कलाएँ आ जाती हैं जैसे—नृत्य, शिल्प, खुदाई, रंगोली, कसीदाकारी, आकारों को गहरे दबा कर उतारना (इम्प्रेसिंग) या उभारना

(एम्बोसिंग), मिट्टी का कार्य तथा छपाई का कार्य आदि-आदि। चित्रकला में इन समस्त कलाओं का समाहार इसलिए हो जाता है क्योंकि इन कलाओं के मूलाक्षर रंग एवं रेखाएँ हैं। आशय यह है कि चित्रकला का ज्ञान अनेक प्रकार की कला-कारीगरी का प्रस्थान-बिन्दु है, आधारभूत ज्ञान है। इसीलिए इस विषय को प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में स्थान देना चाहिए।

मानवीय आत्मा बाल्यावस्था में बौद्धिक-विकास के पूर्व भावनाओं का विकास पहले सिद्ध करती है। मनुष्य जाति के विकासक्रम से भी इसी अनुक्रम की पुष्टि होती है। यही कारण है कि मानव जाति के विकास के इतिहास में बौद्धिक विषयों के विकास से पहले कला के विषयों का विकास देखने में आता है अतएव मनुष्य के सहज-स्वाभाविक विकास को ध्यान में रखते हुए बचपन से ही बालकों को चित्रकला सिखाई जानी चाहिए क्योंकि इसी अवस्था से चित्रकला शुरू न करने में विलंब की भूल की जाती है।

सामान्यतया चित्रकला का ज्ञान हाई स्कूलों, ट्रेनिंग कॉलेजों तथा आर्ट स्कूलों में बहुत देरी से दिया जाता है। यही बात अन्य कलाओं के शिक्षण पर लागू होती है। इतनी देरी से चित्रकला की शिक्षा देने का ही परिणाम है कि इस विषय का शिक्षण कम सफल और दुर्बल है और इसके ज्ञाताओं की संख्या कम रहती है।

शिक्षाविदों की मान्यता है कि ये विषय इतने कठिन तथा विशेषज्ञता वाले हैं कि सबको नहीं आते अथवा भलीभाँति समझने के बाद ही आते हैं। किसी काल में इतिहास के अनभ्यासी तथा मानव जाति के विकास से अनभिज्ञ व्यक्ति ने ही ऐसी बात कही होगी। यही इसका स्पष्टीकरण हो सकता है, कोई और नहीं। भावना के उद्भव में ही कला का उद्भव है और मंथन में कला का सृजन। भावना और मंथनकला जन्म से ही मनुष्य में विद्यमान है और यह जीवनपर्यंत सतत चलता रहता है। अतएव कला विषय का परिचय जीवन से रंचमात्र भी पीछे नहीं रखा जा सकता और न ही इसका ज्ञान विलंब से दिया जा सकता।

: 2 :

अब मान लें कि प्राथमिक शालाएँ बालकों को चित्रकला विषय की शिक्षा देने को तैयार हैं। आइए जरा सोचें कि इस स्तर पर इस विषय के शिक्षण को सफल बनाने के लिए हमें कैसी व्यवस्था करनी चाहिए?

यह तो सही है कि चित्र बनाने के लिए बालक को रूप रंग की दुनिया का अच्छा खासा परिचय होना चाहिए। समग्र विश्व—निसर्ग चित्रकला का प्राण है। इसका श्वासोच्छ्वास, इंद्रियों द्वारा इसका दर्शन कला-सृजन की प्राथमिक आवश्यकता है अर्थात् चित्रकला के विद्यार्थियों को निसर्ग का परिचय करना ही पहला पाठ है। इसके लिए प्राथमिक शालाओं के अभ्यासक्रम में 'निसर्ग दर्शन' को समाविष्ट किया जाना चाहिए। 'प्रकृति अध्ययन' निसर्ग या प्रकृति-दर्शन से अलग चीज है। प्रकृति-अध्ययन वैज्ञानिक-बुद्धि विकसित करने के लिए है जबकि प्रकृति-दर्शन कला-सृजन की भूमिका निर्मित करने के निमित्त है।

प्राथमिक शालाओं के विद्यार्थियों को खुले विशाल आसमान के तले लम्बे-चौड़े मैदानों में दौड़ने-कूदने व नाचने दें। उन्हें आसमान में विचरण करते बादलों के अनेक विचित्र-विचित्र आकार देखने दें। सुबह और शाम को आसमान में बिखरने वाले अनगिनत रंगों को उन्हें जी भर कर देखने दें। प्रत्येक ऋतु में बदलने वाले आसमान और उसके वातावरण को बालक की नजर में पड़ने दें। इसी भाँति धरती-माँ की गोद में, उसकी नित-नयी साड़ियों के रंग-रूपों में उन्हें खूब लोटने दें। गड्ढों, टेकड़ियों, घास और झाड़ियों में बालक जी भर कर भटकें। उनकी नजरों में अनगिनत बहुरंगी पक्षी व पशु भले ही आएँ। उनकी दृष्टि में दूर क्षितिज पर नित नया उदीयमान और अस्ताचल-गामी सूर्य भले ही आने दें। दिन के समय उन्हें पानी की सतह पर बहती पालदार नौकाओं को, आकाश में उड़ते श्वेतवर्णी बगुलों, कुरजों व हंसों को, तथा रात में एक-एक कर प्रकट होकर आसमान के आँगन में खिलने वाले फूलों को जी भर कर देखने दें। इसी में नेत्रों की सार्थकता है। आँखें इन दृश्यों को अपने भीतर संग्रहीत करके रखेंगी तथा जब भावनाओं के अतिरेक की दशा में इनमें से किसी को चित्रित करके अपने जीवन-मंथन को व्यवस्थित एवं शांत करना होगा, तब इनका उपयोग करेंगी। तभी हम उसे कला-सृजन कहेंगे और उस सर्जक को चित्रकार कहेंगे।

ऐसा दृष्टि-सम्पन्न शिक्षक न बालकों को भटकायेगा, न उनको इधर देखो उधर देखो कहकर कृत्रिम अवलोकन कराएगा, न ही प्रकृति विषयक ज्ञान उनके मस्तिष्क में ठूँसने का प्रयत्न करेगा। वस्तुतः कला की सामग्री मस्तिष्क में नहीं, आँखों में भरने की चीज है। विद्यार्थियों की स्वतंत्र-दृष्टि फेंकने वाली आँखें

कलात्मक सामग्री को अपने-आप भर लेंगी। इस स्वयं-प्रेरित कार्य में बाधक न बनने तथा आड़े न आने में ही शिक्षक का महान शिक्षण व उत्तम सेवा समाहित हैं।

प्राथमिक शालाओं के विद्यार्थियों को चित्रकला की ओर प्रवृत्त के करने लिए यह अत्यावश्यक बात पूरी हुई, अब आइए दूसरी बात लेते हैं।

यदि बालक धूल-माटी में, पट्टी पर अथवा कागज पर चित्र बनाए तो उसे बनाने दें। वस्तुतः जिस प्रकार व्याकरण भाषा के व्यवस्थित ज्ञान के लिए सिखाया जाता है, लेकिन शुरुआत में बालक को भाषा बोलने का अवसर देकर ही हम उसे भाषा-ज्ञान कराते हैं, उसी प्रकार चित्रकला के नियमों के अनुसार चित्र बनाने का प्रश्न तो बाद में खड़ा होगा, पहले तो बालक को अपने ही ढंग से चित्रों की भाषा बोलने देना चाहिए। कहीं भाषा बोलने में बालक भूल न करे, इस भय से यदि उसका बोलना ही बंद कर देंगे तो वह भाषा बोल भी नहीं पाएगा। इसी प्रकार कहीं बालक ढंग से चित्र न बना सके, इस भय से यदि हम उसे वह जैसे भी बनाता हो, न बनाने देंगे तो बालक चित्र बनाना ही बंद कर देगा। पैरों को बाँध देंगे तो बालक को चलना नहीं आएगा। गिरते-पड़ते ही बालक के पैर मजबूत होते हैं और चलने के नियम अर्जित करके ही बालक सुन्दर और सुव्यवस्थित रीति से चलना सीखता है। अपने अवलोकन के परिणामस्वरूप जिस मोड़ पर बालक अपने मन से कुछ बनाने लगे तो उसी स्थल पर चित्र-सृजन का उदय है। उस कार्य के लिए वहीं पर बालक का सम्मान किया जाना चाहिए तथा उसे उस काम के लिए वांछित साधन-सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए। उन सुविधाओं का उपयोग करके बालक आगे बढ़ेगा।

प्राथमिक शालाओं को चाहिए कि वे बालकों को अपने मन-पसंद चित्र बनाने दें। भले ही चित्रकार की नजरों में वे चित्र मूल्यहीन हों, टेढ़े-बाँके, अनुपातविहीन और बेढंगे हों, पर वे चित्र बालक के अन्तर्मन को समझने में मदद करेंगे। वे बतायेंगे कि बालक का अवलोकन कितना कच्चा है अथवा परिपक्व है। शिक्षक बालक के अवलोकन का विषय बताएगा। वह उन चित्रों से यह ज्ञात कर सकेगा कि कौनसा बालक भावी चित्रकार है और कौन किस मार्ग पर है! उन चित्रों से शिक्षक यह जान लेगा कि बालक के अवलोकन में या सामग्री में

किन-किन बातों का अभाव रह गया है और वह उस कमी को पूरा करेगा ताकि बालक अपने चित्र को सही बना सके।

ऐसे चित्र बनाने दिए जाएँ तो कोई एतराज की बात नहीं है, यह बात मैं ऊपर लिख आया हूँ क्योंकि उन चित्रों का अध्ययन करना किसी मनोवैज्ञानिक के लिए अत्यंत आवश्यक है। जिस प्रकार के चित्र बालक बनाते हैं, उन्हें संग्रहीत करके यूरोप के लेखक प्रो. सली ने एक पुस्तक लिखी है—'बाल मन का अध्ययन'। पुस्तक का एक अध्याय है 'नन्हें चित्रकार'। उस पुस्तक से बालकों के चित्रों पर बड़ा ही सुंदर प्रकाश पड़ता है। प्रो. सली ने उन चित्रों को देखकर यह माना है कि ये बालकों के द्वारा बनाए गए सहज स्वाभाविक चित्र हैं। इसी मान्यता के आधार पर ऐसे चित्रों को प्राथमिक शाला में तथा बालकों के चित्रों की दुनिया में प्रतिष्ठा मिली। शिक्षक भी यह मानने लगे कि ऐसे चित्र ही बालकों के बनाए हुए चित्र हो सकते हैं, इनसे अधिक अच्छे चित्र बना पाना संभव नहीं। इसके परिणामस्वरूप ऐसा माना जाने लगा कि छोटे बालकों में चित्र बनाने की उम्दा समझ नहीं आ सकती। बल्कि चित्रकार भी यह मानने लगे कि 'नन्हें बालक चित्रकला में क्या समझें?' सामान्यतया चित्रकार यही मानते हैं कि चित्रकला के लिए प्रौढ़ मस्तिष्क होना चाहिए। नन्हें बालकों को चित्रकला सिखाने की क्या जरूरत! एक चित्रकार ने तो यहाँ तक कह दिया कि नन्हें बालक को वाटर-कलर व ब्रुश हर्गिज नहीं देनी चाहिए। ये तमाम बातें आज प्रयोग से गलत सिद्ध हो रही हैं। यह सब आज सामने आया है। वस्तुतः आज तक तो चित्रकला के शिक्षण को जबरदस्त धक्का लगा है।

प्रो. सली की पुस्तक में प्रकाशित सभी चित्रों को तो लोग देख नहीं पाएंगे। उन्हें देखने की बजाय आजकल गाँवों में जिस तरह के चित्र दीवारों, मटालों, कोठियों-कोठारों पर देखे जाते हैं तथा भरने में जिस तरह के चित्रों का उपयोग होता है, वे सब ठीक वैसे ही हैं, जैसे बालक बनाते हैं। अथवा यों कहा जा सकता है कि वे चित्र चित्रों की बाल्यावस्था बताने वाले चित्र हैं। गाँवों के बालक व लोग-बाग उन चित्रों से आगे नहीं बढ़ सके क्योंकि उन्होंने यह बात सोची ही नहीं कि वे वैसे चित्र क्यों बनाते हैं अर्थात् उनमें अधूरापन क्यों है और उसे कैसे दूर किया जा सकता है। इस बारे में उन्होंने उपाय सोचे ही नहीं।

वस्तुतः बालकों के तथा ग्रामवासियों के उन चित्रों को प्रामाणिक मानने के बजाय यह देखा जाना चाहिए कि उनमें सुधार कैसे किया जा सकता है। अतः बेशक प्राथमिक शालाओं में विद्यार्थी जिस तरह के चित्र बनाते हों, एक बार तो उन्हें बनाने दें ताकि उनके अवलोकन को जाँचा जा सके, उनके रुझान का पता लगाया जा सके। पर साथ ही साथ हमें यह उपाय भी सोचना चाहिए कि उनके चित्रों की कमियाँ कैसे दूर की जा सकती हैं।

जैसा कि ऊपर लिख आया हूँ बालकों को प्रकृति के प्रांगण में घुमाना चाहिए। शिक्षक उन्हें सिर्फ घुमाएँ ही नहीं अपितु प्रकृति का अवलोकन कराएँ। सोचने की बात है कि प्रकृति का अवलोकन किस तरह कराएँ? प्रकृति के यथार्थ अवलोकन के लिए देखने वाली आँख की तो जरूरत है ही, भाषा की भी जरूरत पड़ती है। अतः रंग-रूप की दुनिया में बालकों को स्वच्छंदतापूर्वक विचरने के लिए छोड़ देने के बाद शिक्षकों को बालकों में यह आदत विकसित करनी होगी कि वे प्रकृति के विविध दृश्यों एवं उपादानों को खुली आँखों से निहारते रहें।

आँखों को देखने के लिए प्रवृत्त किया जा सकता है। धरती पर, आसपास, ऊँचे पेड़ों से लेकर आसमान तक देखने की अनेक वस्तुएँ हैं। शिक्षक को बालकों के साथ घूमते हुए नयी-नयी चीजों की तरफ उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहिए। सामान्य दृष्टि से देखने पर बालकों की नजर से बहुत सारी चीजें, कई प्रकार के रूप-रंग देखने से छूट जाते हैं। उन सब चीजों को शिक्षक को बालकों को अपने पास बुला कर 'इसे देखो, यह देखो' कहते हुए दिखाना चाहिए। दिखाते समय शिक्षक को लम्बा-चौड़ा विवेचन करके बताने की जरूरत नहीं है। बालकों की अपनी आँखें हैं, इसलिए वे देखेंगे। शिक्षकों को तो बस बालकों की नन्हीं दृष्टि से वंचित रह जाने वाली रूप-रंगमयी सृष्टि का अस्तित्व बालकों की नजरों के समक्ष रख देना है। छोटे-छोटे रंग-बिरंगे रेत के कण, कंकर, तरह-तरह के पौधों की कोंपलें, छोटे-छोटे पंख और ऐसी ही अगणित चीजें हैं जिनकी ओर उन्हें बालकों की दृष्टि को मोड़ना है। एक बार उनकी आँखों को वह देखने की समझ पैदा हुई नहीं और उन्हें अवलोकन में आनंद आया नहीं कि बालक स्वतः वे तमाम चीजें देखने लगेंगे, जो हम देखते हैं, बल्कि हमसे भी एक कदम आगे बढ़कर वे तमाम चीजें देखने लगेंगे और हमें भी बताने लगेंगे।

यदि बालकों को प्रकृति के प्रांगण में स्वच्छंद छोड़ दें तो वे इतनी सारी समृद्धियाँ एकत्रित करके लाएंगे कि जिनके बारे में आप कल्पना भी नहीं कर सकते। मैंने उनके अवलोकन और संग्रहणीय मनोवृत्ति का दर्शन किया है। जब बालकों को सागर के किनारे ले जाया गया था तो उन्होंने वहाँ से ढेर सारी सीपियाँ, शंख, रेत के नमूने और रंग-बिरंगे पत्थर एकत्रित किए थे। उन्होंने एक-एक पत्थर में सौंदर्य देखा था। उस सौंदर्य को उन्होंने अपने अंतर्तम में विद्यमान भावी चित्रकार की निधि के बतौर एकत्रित कर लिया था।

बालकों को जब भी देवालयों में ले जाया जाता था, वे देव-प्रतिमाओं के आकारों, खुदाई-कुराई और प्रस्तर खंडों के शिल्प व चित्रकारी को टकटकी लगाकर देखा करते थे। पत्थरों और उस पर चित्रित चित्रकारी को देखते-देखते वे स्तब्ध रह जाते थे। उन्हें वहाँ से हटाना मुश्किल हो जाता था।

जब भी बालकों को खेतों में ले जाया गया था, वे क्यारों में उगी वनस्पति को देखकर नाचने लगते थे। अपनी इन्द्रियों द्वारा वे उन्हें छूते और अपने प्राणों में उनके प्राण स्वयं भरने लगते। उनकी रूप-रंगमयी सृष्टि को वे अपनी आँखों की मंजूषा में भर लेते। किसी खेत में उगी नन्हीं-नन्हीं घास, छोटे-मोटे पौधे, पानी से भरे क्यारे, क्यारों को भरती नालियाँ, नालियों से पानी पीते कौए, चारों ओर उड़ते पतिंगे—जाने क्या-क्या आकर्षक नजारा देखने को होता है वहाँ! उन सबके अवलोकन से छोटे बालकों की चित्र-रसिक वृत्ति को पोषण मिलता है।

कहने का आशय यह है कि नन्हीं वय में बालक को प्रकृति के बीच जितनी लम्बी अवधि तक रखा जा सके, रखा जाना चाहिए। उससे उनके चित्त का ही शिक्षण नहीं होगा, अपितु उनकी समग्र शिक्षा पर बहुमूल्य प्रभाव पड़ेगा तथा मानवीय व्यक्तित्व के निर्माण में प्रकृति का अत्यंत उपयोगी प्रभाव पड़ेगा।

जब बालकों का चित्र बनाने का मन हो, उस समय उन्हें इच्छानुरूप बनाने देंगे तो निश्चय ही वे बहुत सुंदर चित्र बना सकेंगे। एक बात ध्यान रखें कि उनकी त्रुटियाँ प्रत्यक्ष रूप से न निकालें। इसके बजाय उन्हें सकारात्मक रीति से सही स्थिति का अवलोकन कराया जाना चाहिए। प्रकृति के परिचय से बालकों की आँखें संस्कारित होंगी, परिणामतः वे आकारों व अन्य बातों में जिस अपूर्णता का जिक्र करेंगे, वह स्वतः समाप्त हो जाएगी। कहने का आशय यह है कि बालक जब

तक सुंदर व सम्पूर्ण चित्र बनाना न सीख ले, तब तक उसे चित्र न बनाने देना एक गलती होगी। कदम-कदम पर उसके काम में गलतियाँ निकालना भी गलत है। इसी तरह अमुक विधि से चित्र बनाओ और अमुक ढंग से उनमें सुधार करो, ऐसा निश्चय करके यदि कोई चित्रकला-विद्यालय चलाने की कोशिश करेगा तो बहुत बड़ी गलती करेगा।

एक लम्बी अवधि तक बालकों का अध्ययन करने के बाद इटली की महिला शिक्षाविद् डॉ. मेरिया मोंटेसरी ने बालकों के चित्रों के बारे में कुछ विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने कुछ उपकरण भी आविष्कृत किए हैं, जिनकी सहायता से बालक चित्र की प्रेरणा एवं शुद्धि की दिशा में स्वतः प्रवृत्त हो सकते हैं। इन उपकरणों को प्राथमिक विद्यालयों में प्रयुक्त किया जा सकता है। अलबत्ता, इन्हें प्रयुक्त करने के लिए सम्पूर्ण मोंटेसरी पद्धति को प्राथमिक शाला में लागू करना जरूरी नहीं है और यह संभव भी नहीं है। मोंटेसरी पद्धति का कार्य-क्षेत्र अत्यंत निराला है। हमें तो उसमें से उतना ही अंश लेना है जितना चित्रकला की परिपूर्ति के लिए हमें आवश्यक प्रतीत हो।

लेकिन इससे पहले फ्रॉबेल द्वारा प्रस्तावित खेलों में से प्राथमिक शाला में जो कुछ लिया जा सके, उसे ले लेना चाहिए और जो कुछ अनावश्यक इसमें प्रविष्ट हो गया है उसे निकाल देना चाहिए।

: 3 :

चित्रकला सृजन का विषय है। यह नकल करने का अथवा खाली डिब्बे भरने का विषय नहीं है। प्रत्येक चित्र में उसके रचनाकार का व्यक्तित्व परिलक्षित होता है। उसकी प्रतिभा की छाप तो अंकित रहती ही है, उसकी मनोवृत्ति भी प्रतिबिम्बित होती है। इस प्रकार रंग-रूप की सहायता से अर्थात् रेखाओं व रंगों के द्वारा व्यक्ति अपनी कल्पना को जो आकृति देता है, वह चित्र कहलाता है। रंगोली बनाने अथवा छपाई करने के लिए बाजार में लोहे के साँचे मिलते हैं, उनमें लोहे के पतरों में कीलों की सहायता से मोर, वृक्ष, गाय आदि की आकृतियाँ होती हैं, पर वे चित्र नहीं कहे जा सकते। उनमें रंग भर कर जमीन पर जो चित्रकृतियाँ उभारी जाती हैं, उन्हें कलाकृति नहीं कहा जा सकता। साँचों द्वारा चित्र उभारने वाले को चित्रकार नहीं कहा जा सकता। न ही साँचों का निर्माता चित्रकार कहा जा सकता।

ऐसा करने से चित्र बनाने की अंतर्वृत्ति तृप्त नहीं होती। यह तो एक यंत्र है, जिस किसी के भी हाथ में आ जाएगा, वही उससे हाथी-घोड़े बना लेगा। इसी की भाँति सभी तरह की छपाई का कार्य तथा स्टेंसिल का कार्य भी चित्रकारी नहीं गिना जा सकता। इनमें समय लगाने को चित्रकला का अभ्यास करना नहीं माना जा सकेगा। यदि प्राथमिक शाला में इस प्रकार का काम कराया जाएगा तो उससे चित्रकला के विकास की दिशा में कुछ ठोस काम हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकेगा। आजकल इस तरह के चित्र बेचने की बहुत-सी दुकानें खुल गई हैं और ऐसे शिक्षक भी बढ़ने लगे हैं जो यह मानते हैं कि साधन बढ़ाने से शिक्षण उत्तम होगा। वस्तुतः ऐसी वस्तुएँ चित्रकला के शिक्षण में विद्यार्थी की स्वयंभू चित्रवृत्ति को बिगाड़ती हैं, उन्हें नकलची बनाती हैं, उन्हें यांत्रिक बनाती है अतः यही मानकर चलना श्रेयष्कर होगा कि ऐसी वस्तुएँ चित्रकला-शिक्षण के लिए त्याज्य हैं।

इसी भाँति किन्हीं विद्यालयों में अमुक प्रकार के कार्ड लाए जाते हैं, जिनको उपयोग में लाकर चित्र बनाना सिखाया जाता हैं। कार्डों पर बिन्दुओं की सहायता से जानवरों आदि के चित्र छपे होते हैं। बिन्दुओं को पेंसिल से रेखाएँ बनाकर जोड़ने पर चित्र उभर आता है। सुई-डोरे से भी ऐसे चित्र बनाए जाते हैं। पर यह भी यांत्रिक विधि है।

इधर अनेक प्राथमिक शालाओं में छपी हुई चित्र-कॉपियाँ आने लगी हैं। ये चित्र-कॉपियाँ पुस्तक-विक्रेता अपने आर्थिक लाभ के लिए छपवाते हैं और चित्रकला के उत्साही शिक्षक इन्हीं को चित्रकला के अभ्यास के लिए पाठ्यपुस्तक के बतौर स्वीकृत कर देते हैं। बालकों से कहा जाता है कि इन पुस्तकों में जैसा चित्र छपा है, वैसा का वैसा अपनी पट्टी पर बनाओ। चित्र-कॉपी से कंघा या बाल्टी के छपे चित्र देखकर बनाना नकल है। इसे सृजन नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्यालयों में शिक्षक श्यामपट्ट पर चित्र बना देता है और विद्यार्थी दियासलाई की तीलियों, इमली के बीजों या कंकरों से जमीन पर वैसा का वैसा चित्र बनाते हैं। इस तरह की प्रवृत्ति को चित्रकला-शिक्षण का नाम दिया जाता है, जबकि यह भी नकल से भिन्न प्रकार का काम नहीं है।

कई स्थानों पर फ्रॉबेल पद्धति में अथवा उससे भिन्न पद्धति में रंगीन घनों या ईंटों से तरह-तरह के आकार बनवाये जाते हैं, उससे भी मुझे कोई लाभ होता

नजर नहीं आता। इस तरह से आकार बनाओ, उस तरह से आकार बनाओ—ऐसे निर्देश देकर या सामने कोई नमूना रखकर जो आकार बनवाये जाते हैं उनसे आकारों की विविधता में कोई लाभ नहीं मिलता। बालकों को घनों एवं ईंटों द्वारा इच्छानुसार आकार बनाने देना चाहिए। आकृतियाँ अभ्यास से बनती हैं। बच्चे घनों की सहायता से अनेकानेक आकृतियाँ बना सकते हैं। मैंने ऐसी अनगिनत आकृतियाँ बनते देखी हैं और प्रत्येक रचना के द्वारा बालक को नयी-नयी रचनाएँ—नूतन कलासृष्टि रचते देखा है। उन रचनाओं के पीछे मुझे बालक की विकासमान कला-वृत्ति के दर्शन हुए हैं। उस कलावृत्ति के अधिकाधिक अवलोकन से कौनसा बालक कला की किस दिशा में जाएगा, ऐसा मेरा अनुमान सदैव सही गया है। एक नन्हीं बालिका ने रंगीन घनों के इतने सारे आकार जमीन पर बनाए थे कि उनसे उसका चित्रकार बनना सहज ही देखा जा सकता था। आखिरकार उसने चित्रकला में भाग लेकर अपना कौशल प्रमाणित कर दिया।

मोजेइक रचनाओं की पेटियाँ भी चित्रकला की पूर्ण तैयारी में बहुत काम आती हैं। उन पेटियों में खास तरह के चित्र होते हैं, उनमें आकारों की रचना दी गई होती है। चित्रों की देखादेखी आकार बनाने में क्या लाभ? ऐसा करने में तो मात्र अनुकरण होगा तथा आकारों की रचना की तरफ बालकों की प्रवृत्ति जागेगी तक नहीं। इन पेटियों के रंगीन घन यदि हम बालकों को दे दें और उन्हें स्वतंत्र रीति से अपने आकार बनाने दें तो सचमुच हैरानी होगी कि वे कैसी-कैसी संरचनाएँ बनाते हैं। वे अपने दिमाग से नई-नई संरचनाएँ बनायेंगे। उन संरचनाओं को देखकर बालकों की अंतर्वृत्ति को समझा जा सकता है। उनकी कला-क्षमता कितनी विकसित हुई है और उनके स्वतंत्र सृजन कैसे हैं, यह भी जाना जा सकता है। वस्तुतः उन घनों में कोई विशेषता नहीं है, विशेषता है उनका स्वतंत्र एवं स्वयं-स्फुरित रीति से उपयोग करने देने में। हम लोग शायद ही कभी बालकों को अपने आप सोचने देते हैं। हर समय हम ही उन्हें बताते रहते हैं, उन्हें सूचनाएँ व निर्देश देते रहते हैं, तब भला वे स्व-प्रेरणा को कैसे पहचानें? उनमें विद्यमान स्वाभाविक प्रेरणा समाप्त हो जाती है और वे पर-प्रेरणा के अधीन होने के कारण स्वयं को प्रकाशित करने के बजाय दूसरों को प्रकाशित करते हैं। हमारे बालकों में स्वयं की प्रतिभा न होने का एक बड़ा कारण यही है। शिक्षण के प्रत्येक विषय में बड़ी उम्र

के व्यक्ति ने छोटी उम्र के बालक या व्यक्ति पर हमला किया है, यही कारण है कि आज हमारी मानवीय सृष्टि में इतना बौनापन नजर आ रहा है।

शिक्षण के अन्य विषयों की भाँति चित्रकला विषय में भी हमारे बालकों को कहीं इस तरह के हालात से न गुजरना पड़े, इसके लिए प्राथमिक शाला के शिक्षकों को विशेष सावधानी बरतनी होगी, क्योंकि प्राथमिक शाला के शिक्षक बालकों को 'सीखने देने' की बजाय 'सिखाने' पर अधिक आग्रह रखते हैं। सिखाने की यह प्रवृत्ति विकास-द्रोही है, अतः त्याज्य है।

: 4 :

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि मॉंटेसरी पद्धति में वे कौन-कौन से उपकरण हैं जिन्हें प्राथमिक शालाओं में चित्रकला-शिक्षण के निमित्त उपयोग में लिया जा सकता है।

चित्र अर्थात् रेखाओं की परिसीमा में मर्यादित कोई रिक्त स्थान या अवकाश। चित्र अर्थात् उस रिक्त स्थान या अवकाश में रंगों के द्वारा छाया व प्रकाश का संयोजन करते हुए वस्तु एवं भाव का प्रकटीकरण।

ऐसे चित्र बनाने की सीढ़ी के कुछ सोपान हैं, जिन पर चढ़ते-चढ़ते बालक सहज ही चित्र बनाने की भूमिका पर जा पहुँचेंगे।

चित्र का पृथक्करण रेखा और रंग है। अर्थात् इन दोनों को गंभीरता से समझ लेने पर ही चित्र का जन्म सहज सुलभ हो जाता है। अतः पहले बालकों को रेखाओं का परिचय कराने की जरूरत है। इतनी ही जरूरत है उन्हें रंग-सृष्टि का परिचय देने की।

दो बिन्दुओं के बीच लकीर खिंचवाने से रेखा का परिचय नहीं कराया जा सकता। चित्रकार के लिए सीधी रेखा, आड़ी या खड़ी रेखा खींचने का अभ्यास करना एक माथापच्ची का काम है। यह माथापच्ची 'प्रथमे ग्रासे मक्षिका पातः' बनकर चित्रकार की आत्मा को ही ठंडा कर देती है और बहुधा उसकी गति अवरुद्ध हो जाती है।

वस्तुतः बालकों को सबसे पहले इस बात का ज्ञान कराना चाहिये कि इस सृष्टि के विविध अवयवों एवं पदार्थों को रेखा के द्वारा कैसे उभारा जा सकता है।

यह ज्ञान जितना स्पष्ट होगा, चित्रकला शिक्षण की प्रगति भी उतनी ही स्पष्ट और वेगवान होगी। इसके लिए चित्रकला के पाठ्यक्रम में मॉडल ड्राइंग तथा स्टिल-लाइफ ड्राइंग आदि के अभ्यास द्वारा रेखाएँ खींचने का अभ्यास कराया जाता है। पर चित्रकार और कला-दृष्टि से युक्त शिक्षक यह जानते हैं कि इस तरह से दिया जाने वाला ज्ञान सीमित पदार्थों तक ही सीमित रहता है, वह व्यापक नहीं बन पाता, क्योंकि इस तरह का चित्रांकन एक प्रकार का रटंत-कार्य है। इस बात को मेरी बजाय तो चित्रकार अधिक अच्छी तरह से समझ सकते हैं और इस बात का इंतजाम कर सकते हैं कि इस रटंत विद्या से कैसे मुक्ति पाई जाए। सच पूछें तो पदार्थों का अवलोकन ही रेखा को समझने का महत्त्वपूर्ण आधार है। इसके साथ ही साथ पदार्थों के परिमाणों का शास्त्रीय ज्ञान भी जरूरी तौर से सीखना चाहिए। संसार के प्रत्येक पदार्थ में परिमाण है ही, लेकिन वे परिमाण वस्तु से पृथक होकर तथा पदार्थों को पृष्ठभूमि में रखकर आँखों में नहीं टिकते। इसी से आँखों के समक्ष पदार्थ आते ही आँखों को उनकी प्रतीति होती है, उनमें पदार्थों को धारण करने की शक्ति आती है लेकिन उन पदार्थों की रेखाकृति नहीं आती। पदार्थों से निरपेक्ष होकर आँखें उनके परिमाणों की रचना को समझ नहीं सकती। यह समझ चित्रकला में अत्यावश्यक है। परिमाण को देखने-समझने का ज्ञान बाल्यावस्था से ही स्पष्ट हो जाना चाहिये। परिमाण का परिचय कराने के लिए हम बालकों के लिए मोंटेसरी पद्धति के उपकरण प्रयोग में ला सकते हैं। यदि बालकों ने गट्टापेटी, मीनारें, लंबी व चौड़ी सीढ़ियाँ आदि उपकरणों को काम में लाकर अभ्यास किया है तो निश्चय ही उनके मन में पदार्थों के परिमाण अधिक स्पष्ट हुए होंगे। इसका यह अर्थ नहीं कि गट्टापेटी आदि उपकरणों के बिना प्राथमिक विद्यालय खोले ही न जाएँ। ये उपकरण शास्त्रीय हैं लेकिन इनके सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त करके गत्ते (स्ट्रा बोर्ड) के अथवा अन्य सस्ते पदार्थों के उपकरण बनवाकर प्राथमिक शालाओं के विद्यार्थियों को वैसा ही ज्ञान दिया जा सकता है। प्राथमिक शालाओं तक आते-आते बालकों की उम्र बड़ी हो जाती है क्योंकि बालमंदिर की उम्र तो वे बिता चुके होते हैं, अतएव उनके लिए मोंटेसरी के गट्टापेटी आदि उपकरण पुनरावर्त्तन-प्रेरक सिद्ध नहीं हो सकते। अतः इनकी अनिवार्यता को स्वीकारना ही नहींचाहिए।

उपर्युक्त उपकरणों को छोड़ दें, लेकिन ज्यॉमितीय आकृति की छह खानों वाली पेटी यदि प्राथमिक शालाओं में चित्रकला शिक्षण में काम में लाई जा सके तो

रेखाओं का ज्ञान आसान हो सकता है। छह खानों वाली संदूक के बारे में मैंने अपनी पुस्तक 'मोंटेसरी पद्धति' में विस्तारपूर्वक लिखा है। इस पेटी में गोल, चौरस, त्रिकोणीय आकार की ज्यॉमितीय आकृतियाँ रखी होती हैं। परिमाण वाले पदार्थों को रेखा द्वारा व्यक्त करने के उपकरणों में यह पेटी महत्वपूर्ण स्थान रखती है। गट्टे व मीनारें परिमाण का एक अलग ढंग से परिचय देती हैं जबकि उक्त ज्यॉमितीय आकृतियाँ इन परिमाणों को अधिक स्पष्ट रीति से समझाती हैं। इनके माध्यम से चित्र की रेखाओं को बनाने की समझ विकसित होती है।

ज्यॉमितीय आकारों वाली पेटी को खोलकर विद्यार्थी उन आकृतियों को देखेंगे और उन्हें संबंधित खानों में वापिस रख देंगे। इस तरह रखने में वे उन खानों की सीधी या गोल आकृति को समझ जाएंगे। ये रेखाकृतियाँ अभी तक गोल, चौरस, त्रिकोण आदि लकड़ी की सतह वाली आकृति के खानों में समाहित हैं। अर्थात् वे अभी मुक्त रूप से बालकों की आँखों में आ नहीं पाई, फिर भी वे उनकी आँखों के अनुभव में हैं।

यह अनुभव ज्यॉमितिक पेटी के साथ दिये गए ज्यॉमितीय कार्डों के द्वारा होगा, ऐसी व्यवस्था है। तीन तरह के कार्ड हैं। इनका वर्णन मैंने अपनी पुस्तक 'मोटेसरी पद्धति' (प्रथम खंड, पृ. 203 से 205 तक) में विस्तार से किया है। संबंधित अंश की उपयोगिता को देखते हुए यहाँ उसे पुनः उद्धृत करना समीचीन लग रहा है :

'साधन नं. 2 : कार्ड बोर्ड की तीन पेटियाँ अथवा संदूकें होती हैं। उनमें लकड़ी के ज्यॉमितीय ढाँचे जैसे कागज के चौकोर सफेद कार्ड रखे होते हैं। तीनों पेटियों में तीन अलग-अलग प्रकार के कार्ड होते हैं। पहले प्रकार के चौकोर कार्डों पर लकड़ी की ज्यॉमितिक आकृतियों के जैसी ही आकृतियाँ नीले कागज पर कटी चिपकाई हुई होती हैं, दूसरे प्रकार के कार्डों पर लकड़ी की ज्यॉमितिक आकृतियों के जैसी ही नीले कागज पर कटी हुई मोटी रेखावाली आकृतियाँ चिपकाई हुई होती है और तीसरे प्रकार के कार्डों पर बहुत महीन रेखाओं में बनाई हुई ज्यॉमितिक आकृतियाँ होती हैं।

'साधनों को प्रयोग में लाने की विधि : प्रथम श्रेणी : बालकों को पहली पेटी वाले नीली आकृति चिपकाए हुए कार्ड तथा लकड़ी की ज्यॉमितिक आकृतियाँ

दी जाएँ । इन कार्डों को बालक टेबिल के ऊपर एक कतार में सजा लें । यह जरूरी है । इसके उपरांत बालक कार्डों पर चिपकाई नीली आकृतियों पर उनके जैसी ही लकड़ी वाली आकृतियों को रखे । यहाँ बालक को चौखाने में नहीं अपितु कार्ड पर चिपकाई हुई आकृतियों पर ही आकृतियाँ रखनी हैं । चौखाने में आकृति को रखते समय चौखाना स्वयं बालक को अपनी त्रुटि सुधारने में मदद देता है, पर यहाँ वह बात नहीं है । यहां तो बालक को आँख का सही उपयोग करना पड़ता है । पहले त्रुटि को सुधारने का आधार आँख होगी । बालक को लकड़ी वाली आकृति को कार्ड वाली आकृति पर सही-सही जमा कर रखना होगा, ताकि नीचे की आकृति नजर ही न आए । आकृति को रखते समय पहले बालक को कार्ड वाली आकृति के चारों ओर उंगली घुमानी है । इस अभ्यास से बालक को प्लेन अर्थात् सादा आकार पहचानने का ज्ञान मिलता है । इस प्रकार जब बालक प्रथम श्रेणी से द्वितीय श्रेणी में और द्वितीय से तृतीय श्रेणी में जाता है तो उसकी आँखों का बहुत अच्छी तरह से विकास हो जाता है । प्रत्येक श्रेणी से गुजरते हुए बालक का विकास बढ़ता ही जाता है । जब बालक तृतीय श्रेणी पार कर लेता है, तब वह लकड़ी की ज्यॉमितिक आकृति और कार्ड पर खिंची रेखा की आकृति के बीच का संबंध जान जाता है अर्थात् वह स्थूल और सूक्ष्म का संबंध सिद्ध कर लेता है और उसे देख भी सकता है । इस समय वह रेखा का वास्तविक अर्थ समझ जाता है और सरल-सीधी रेखा से बने आकारों को पहचानना व उनका अर्थ ढूँढ़ना सीख जाता है ।

'द्वितीय श्रेणी : इस श्रेणी में बालक को दूसरे नम्बर वाली पेटी और ज्यॉमितिक आकृतियाँ दी जाती हैं । बालक को ऊपर बताई गई विधि से ही इसका उपयोग करना है । इस अभ्यास से बालक क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की तरफ जाता है । पहले वह लकड़ी वाली केवल स्थूल आकृतियाँ ही प्रयोग में लाता था, और उनको ही पहचानता था, तब उसे उस सतह की आकृतियों में स्थूल आकृति की स्थूलता नहीं दिखती थी । यह क्रिया प्रथम श्रेणी में पूरी हो जाती है । अब बालक सपाट आकृतियों से रेखाओं वाली आकृतियों की तरफ आता है, हालाँकि रेखाओं वाली ये आकृतियाँ अभी स्थूल आकृति की रेखा मात्र ही नहीं बतातीं, ये तो जब बालक खुद उंगली को स्थूल आकृति के किनारे चारों ओर फिराता है, तब उसे जिस मोटाई वाले मार्ग का अनुभव होता है, उसे बतातीं हैं । जब बालक इस श्रेणी की ऊपर वाली आकृतियों पर अपनी उंगली फिराता है तब उसे ऐसा ही अनुभव

होता है। जिस तरह की लकीर कोई बालक स्थूल आकृतियों के ऊपर अपनी उंगली फेरते हुए बनाता है वैसी ही लकीर उस कार्ड पर चिपकाई हुई आकृतियों पर उंगली फिराते हुए महसूस करता है। इस विशद विवेचन का संक्षिप्त अर्थ इतना ही है कि बालक इस द्वितीय श्रेणी में स्थूल से सूक्ष्म आकृति की ओर प्रवृत्त होने लगा है।

'तृतीय श्रेणी : बालक को तीसरे नंबर की पेटी और उससे संबंधित ज्यॉमितिक आकृतियाँ दी जाएँ। वह उपर्युक्त विधि के अनुसार खेलने लगेगा। यहाँ बालक के समक्ष रेखा की आकृति उभर आती है। वह आकृति और रेखा के फर्क को समझने लगता है। वह यह जान जाता है कि आकृतियों को रेखा के आकार में किस तरह दर्शाया जा सकता है।'

इस तरह कार्डों का उपयोग बालक को स्थूल से सूक्ष्म की तरफ ले जाता है अर्थात् वह कल्पना करने लगता है कि प्रत्येक स्थूल पदार्थ को रेखा में कैसे देखा जा सकता है। एक बालक बालक के मन में अल्प आयु में यह कल्पना जागी नहीं कि उसे चित्र की रेखा—मॉडल ड्राइंग व स्टिल लाइफ के रेखांकन की विशेषता समझ में आने लगती है।

यदि किसी विद्यालय में उपर्युक्त पेटियों की व्यवस्था संभव न हो सके तो कोई बात नहीं, इन पेटियों के सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए समझ कर ही शिक्षकों को इनके उपयोग की योजना बनानी चाहिये।

यहाँ मैं शिक्षकों से एक विनम्र अनुरोध करना चाहता हूँ कि वे स्वयं अपने मत के प्रति इतना आग्रह न रखें। अनेक अध्यापक गलत तरीकों से यह बात सिद्ध करके बताना चाहते हैं कि उनमें कोई विशेषता है। इस तरह से तो वे सच का मार्ग छोड़ कर गलत मार्ग पर ही चल पड़ते हैं ताकि स्वयं को सही प्रमाणित कर सकें। वे अपने अधिकारियों को वाणी की आकर्षक छटा से मोहित करते हैं। ऐसे अध्यापक अपने ऊँचे अधिकारियों को कलाबाजी खिला देते हैं और अपने बालकों को पट्टी पढ़ाने लगते हैं। यह बारहखड़ी बालक का अहित करती है, क्योंकि मिथ्याभिमान के लिए की जाने वाली प्रवृत्तियाँ बालकों का अहित ही करेंगी। शिक्षक चाहे तो नया साधन ढूँढ़ने की कोशिश कर सकता है, पर ऐसा कोई साधन उसके हाथ तभी लग सकता है जब वह सत्य में निष्ठा रखे। यदि वह घमंडी होगा

तो कुछ चमत्कार बताएगा और थोड़े समय तक अजाने-अनजान लोगों से प्रशंसा पाएगा, पर वस्तुतः उसकी चमक जुगनू की तरह अल्पकाल के लिए ही टिक पाएगी।

कई अध्यापक नई बातों और विषयों में इसलिए त्रुटि निकालने लगते हैं क्योंकि उन्हें उनका ज्ञान नहीं होता। यह काम वे जानबूझ कर करते हैं और नए विचारों के आगमन को रोकते हैं। ऐसे शिक्षक शिक्षक नहीं हैं। ऐसे शिक्षकों को पहचानकर उनके बजाय सही काम करने वाले सही शिक्षकों को लगाया जाना चाहिए। ऐसे मताग्रही शिक्षकों ने ही शिक्षा की प्रगति को रोका है। उन्हें भी नए शैक्षिक प्रवाहों में अपना योगदान देना चाहिए।

चित्रकला की बात करते-करते मैं जरा मार्ग से अलग हटकर चित्रांकन करने लगा था, अब वापिस राह पर आ रहा हूँ।

: 5 :

अब हम इस बात पर विचार करें कि प्राथमिक विद्यालयों में चित्रकला का पाठ्यक्रम कैसा होना चाहिये ?

प्राथमिक विद्यालयों में अब तक चित्रकला का प्रायोगिक अभ्यास हुआ तक नहीं, जबकि बाल मंदिरों में यह अभ्यास हो चुका है। वहाँ स्वतंत्र एवं स्वयं-स्फुरित वातावरण में बालक की चित्रकला का विकास हो जाता है। उस विकास के मार्ग पर बालक लगभग प्रतिवर्ष अपने आप चलने लगते हैं। कहने का आशय यह है कि बार-बार के अनुभव से बालमंदिर में चित्रों का एक अमुक स्तर वहाँ के शिक्षकों के मन में लगभग निश्चित-प्राय हो जाता है। मेरा अनुभव है कि यदि बालमंदिरों में कराये जाने वाले चित्रों के स्तर को प्राथमिक विद्यालय स्वीकार कर लें, तो इससे उन्हें बहुत लाभ होगा। हमारे बालमंदिर में ठेठ ग्यारह-बारह वर्ष तक के बालकों पर चित्रकला के अनेक प्रयोग किये जा चुके हैं। वर्षों के अनुभव के बाद वे प्रयोग अब सिद्धांत बन चुके हैं। इनके आधार पर हम प्राथमिक विद्यालयों में प्रयोग सिद्ध पाठ्यक्रम चला सकते हैं।

प्राथमिक विद्यालय अपने वहाँ कागजों, रंगीन पेंसिलों और लोहे की ज्यॉमितिक आकृतियों से चित्रकला की शुरुआत कर सकते हैं। प्रत्येक बालक को कागज दिए जाएँ, दो-चार बालक इकट्ठे मिलकर अथवा अलग-अलग रंगीन पेंसिलें

रखें तथा पूरी कक्षा के लिए लोहे की आठ-दस भौमितिक आकृतियाँ रखी जाएँ। ये आकृतियाँ वैसी ही हों जैसी कि छह खाने वाली ज्यॉमितिक पेटी में हैं। इनमें चौकोर, गोल, त्रिकोण, लंबगोल, वर्तुल, पंचकोणीय, अंडाकार तथा फूल जैसी आकृतियाँ हों। ज्यॉमितिक पेटी में तो लकड़ी की आकृतियाँ होती हैं जबकि ये लोहे की होंगी। लोहे की आकृतियाँ लंबे समय तक, तीन पीढ़ियों के काम आ सकेंगी।

अब काम की शुरुआत इस तरह करनी है।

प्रत्येक बालक से कहें कि टेबल पर अपना कागज रखे, उसके ऊपर ज्यॉमितिक आकृति रखे, फिर हाथ से दाबे और रंगीन पेंसिल से उसके किनारे-किनारे लकीर खींचते हुए आकृति को उभारे। जब हम बालक को एक बार यह बात बता देंगे तो वह बार-बार आकृति को रखकर उससे कागज पर चित्र उभारेगा। इस तरह वह आठों आकृतियों से कई-कई रंगीन चित्र उभारेगा। ये चित्र ज्यॉमितिक आकृतियों के होंगे, अर्थात् गोल, त्रिकोण या चौकोर रेखाचित्र।

इस तरह के काम में बालक बहुत आनन्द लेते हैं क्योंकि भले ही वे किसी उपकरण की मदद से आकृतियों के तरह तरह के चित्र उभारें, पर रेखाओं के माध्यम से वे रिक्त स्थल (स्पेस) को भरते हैं। बालकों को हमें तब तक चित्र बनाने देना चाहिए जब तक कि वे थक न जाएँ। इस तरह करते-करते बालकों का वैसा ही नियंत्रण पक्का हो जाएगा, जैसा हम किसी चित्रकार के लिए अपेक्षित समझते हैं।

जब बालक संतोषपूर्वक ऐसे चित्र बनाने लग जाएँ तब उन्हें चित्रों में रेखाएँ भरना सिखाएँ। इस संबंध में मैंने 'शिक्षण पत्रिका'* में तथा 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षण' नामक पुस्तक में लेख दिया है, शिक्षकों को उसे पढ़ लेना चाहिए।

यहाँ यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि चित्र बनाने की पुरानी पद्धति और नूतन पद्धति में बहुत अंतर है। चित्र बनाने वाले प्रत्येक बालक को लकीर खींचना आना चाहिये। पुरानी पद्धति में लकीर खींचने का यह काम जितना कठिन और कष्टदायी बना दिया गया था, नई पद्धति में उतनी ही आसान तथा आनंददायी रीति से समझाया जाता है।

* गुजराती 'शिक्षण पत्रिका' का संपादन गिजुभाई स्वयं करते थे तथा हिन्दी 'शिक्षण पत्रिका' का संपादन एवं प्रकाशन श्री काशिनाथ त्रिवेदी करते थे। इन पत्रिकाओं के प्रकाशन ने भारतीय शिक्षा जगत को ऐतिहासिक योगदान दिया था।

रेखाएँ खींचने से बालक में नियंत्रण का कौशल पैदा होता है, लेकिन सीधी रेखाएँ खींचने की चिंता करने से बालक की नियंत्रण क्षमता घटती है और ज्ञान भी सिद्ध नहीं हो पाता। दो बिन्दुओं के बीच रेखाएँ खिंचवाने की पुरानी पद्धति बालक के नियंत्रण कौशल को बाधित करती है। नयी पद्धति के अनुसार बालकों को आकृति के साँचे के अंदर लकीर खींचने को कहा जाता है। छोटी-बड़ी रेखाएँ खींचते खींचते अपने-आप बालकों में सीधी और सोचे हुए ढंग से रेखाएँ बनाने की क्षमता पैदा हो जाती है। परिणामतः जब बालक सीधे, समानांतर और पास-पास रेखाएँ खींचने लगते हैं तब वे रेखाओं और आकृति के चित्र देखकर स्वयं प्रसन्न हो उठते हैं। रेखाओं से उभरी हुई चित्रकृति को देखकर उनके चित्रकार-शिक्षक को भी बेहद खुशी होगी।

जैसा कि ऊपर कहा गया है बालकों को रंग-बिरंगी पेंसिलें दी जानी चाहिए। इनके द्वारा वे तरह-तरह के रंगों का प्रयोग करने और उनका आनंद लेने के लिए स्वभावतया अधिकाधिक आकृतियाँ बनाएंगे। इसके परिणामस्वरूप वे अपनी मर्जी के अनुरूप अनेक आकृतियों में प्रेमपूर्वक रंग भरेंगे और बिना किसी का आदेश पाए, अपने आप बिना थके अपने हाथ का अभ्यास पक्का कर सकेंगे।

बालकों को रंग-बिरंगी पेंसिलें अच्छी लगती हैं, क्योंकि उन्हें रंग अच्छे लगते हैं, रंगों की सृष्टि अच्छी लगती है। उनकी रंगों की अभिरुचि को अधिक संस्कारित बनाने तथा उसमें सूक्ष्मता लाने के लिए प्राथमिक विद्यालयों में रंगों के बक्से का उपयोग हो तो उत्तम रहे। कदाचित् रंगों के बक्से का पाना प्रत्येक विद्यालय के लिए संभव न हो, ऐसी स्थिति में प्रत्येक शिक्षक को इतनी बात तो ध्यान में रखनी ही चाहिए कि बालक कैसे ही करके भाँति-भाँति के रंगों की दुनिया से परिचित हो सके।

यदि अध्यापकगण अपने विद्यालयों में रंगों के बक्सों को प्रयोग में लाने के इच्छुक हों तो उनके शास्त्रीय उपयोग हेतु उन्हें 'मोंटेसरी पद्धति' तथा 'मोंटेसरी प्रवेशिका' नामक पुस्तकें अवश्य देखनी चाहिए।

: 6 :

अब प्रश्न यह सामने आता है कि जब बालक रेखाएँ खींचने का काम करने लगें, तब उन्हें आगे क्या करना चाहिए? सच पूछें तो बालकों के लिए

अमुक-अमुक अभ्यासक्रम की जरूरत ही नहीं है। प्राथमिक शालाओं को भी अभ्यासक्रम की बेड़ी से छूटने में ही लाभ है। अन्य विषय तो इस बेड़ी में से न जाने कब छूटें, पर इस नए विषय को तो पहले से ही बंधन मुक्त कर देना अच्छा रहेगा।

बालकों को कागज व पेंसिल देने के बाद यह कहा जाय कि जो बनाना चाहो बनाओ। उनके समक्ष हाथ से बनाए हुए ऐसे चित्र न रखे जाए जिन्हें उनको देखा-देखी (अनुकरण से) बनाना पड़े। बल्कि उन्हें प्रकृति और संग्रहालय आदि स्थानों में ले जाया जाए। विद्यालय को पेड़-पौधों लताओं आदि से सजाना चाहिए। आज के समय में बिना सजाई हुई शाला अच्छी नहीं लगती। बालक अपने स्वभावानुसार भौमितिक आकृतियों की सहायता से कागज पर नई-नई आकृतियाँ बनायेंगे। कभी-कभी बालकों के समक्ष पहले वाले बालकों के द्वारा बनाये गए चित्र मार्गदर्शन के लिए रखना उपादेय होता है। कभी-कभी शिक्षक को भी ज्यॉमितिक आकृति का चित्र श्यामपट्ट या कागज पर बालकों के समक्ष रख देना चाहिए, लेकिन उन्हें ऐसा हर्गिज न कहा जाय कि तुम इसकी नकल करो। हाँ, यदि बालक अपने आप उसकी नकल करना चाहे तो करने दें, पर उन्हें प्रोत्साहन न दें। ज्यॉमितिक आकृतियों के चित्रों को दिशा देने के लिए टाइल्स की डिजाइनिंग पुस्तिका तथा ज्यॉमितिक आकृतियों की पुस्तिकाएँ कक्षा में खुली रखी जानी चाहिए। अर्थात् चित्र खींचने के प्रयोग करते-करते बालक हमें जिन-जिन स्तरों तक छाए प्रतीत हों, उन-उन स्तरों के अनुरूप वातावरण बालकों को दिए जाएँ ताकि उन स्तरों को हासिल करने में बालकों को आसानी रहे। बालमंदिर में हमने जब बालकों को ऐसा वातावरण दिया तो उसके परिणामस्वरूप उन्होंने तत्काल उस कक्षा को हासिल कर लिया, ऐसा हमें प्रतीत हुआ।

ज्यॉमितिक रचनाशीलता की यह कक्षा अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। कला-शिक्षण में ज्यॉमितिक समझ बहुत महत्त्व रखती है, क्योंकि कलाकृतियों में ज्यॉमितिक आकृतियों का अच्छा खासा उपयोग होता है। चित्रकला में गोल रेखा का जितना महत्त्व है, उतना ही सीधी रेखा का भी है। ज्यॉमितिक रचना में गोल एवं सीधी दोनों प्रकार की रेखाएँ होती हैं, अतः कलात्मक सृजन में उनका महत्त्व है। किसी भी चित्र को देख लो, किसी भी मंदिर या ऐसे ही स्थल की चित्रकृति देख लो, साफ पता लग जाएगा कि कलाकारों ने उनमें ज्यॉमितिक सूझ-समझ एवं

रचनाशीलता का अच्छा खासा उपयोग किया है। ऐसी रचनाएँ बालकों की दुनिया में आ सकती हैं। वे ऐसी कई सुंदर-सुंदर रचनाएँ बनाते हैं कि जो अच्छे-अच्छे कलाकारों के दिमाग में भी नहीं आती।

बालमंदिर में बालकों के द्वारा बनाई गई ऐसी ज्यॉमितिक आकृतियों का एक अलग ही संग्रह बनाया गया है। उन्होंने नई-नई कृतियों का सृजन किया है, यह देखकर ताजुब भी होता है और आनंद भी आता है।

: 7 :

अगले चरण में देखा जाता है कि बालक अपनी ज्यॉमितिक आकृतियों के चित्रों को सजाते हैं। शब्दों के द्वारा ही मैं यहाँ आपको समझा सकता हूँ। यदि बालकों के द्वारा बनाया गया एकाध शृंगार-चित्र यहाँ छापना संभव हो पाता तो उसके संबंध में एक भी शब्द कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। मान लें कि बालक ने एक त्रिकोण बनाया है। वह त्रिकोण के तीनों कोणों के बाहर रेखाएँ खींच कर उनके किनारे तथा भीतर फूल बनाएगा। इस तरह की चित्रकृति को हम जॉमितिक शृंगार चित्र कहेंगे। इसमें बालक की शुद्ध कला दृष्टि का दर्शन है। उसे त्रिकोण, गोलाकार या चतुर्भुज खाली-खाली लगता है अतः वह उसे इस तरह सजाना चाहता है, अलंकृत करना चाहता है ताकि वह और अधिक सुन्दर लगने लगे। अलंकारों से सजाने की दृष्टि बालक में स्वाभाविक तौर पर होती ही है और उस दृष्टि का यहाँ विकास होता है। बालक ज्यॉमितिक आकृतियों को और उनकी रचना को जितनी अच्छी तरह से सजाना चाहता हो, उतनी ही अच्छी तरह से उसे सजाने देना चाहिए। कोई बालक उन्हें फूलों से, पतंगों से, बिन्दुओं से चोकड़ी के चिह्नों से या किन्हीं अन्य रीति से सजाने का प्रयत्न करेंगे और सच मानें ऐसी सजावट की हुई आकृतियों की शोभा बहुत बढ़ जाती है। लगभग इस स्तर पर बालक अपनी मनपसंद के चित्र बनाने लगते हैं। श्यामपट्ट पर या पट्टी पर चॉक-बरते से या कागज पर पेन से वे जैसे भी चित्र बनाना चाहें, बिना किसी बाधा के उन्हें बनाने देना चाहिए। कारण यह है कि वे आविर्भाव का स्वागत करते हैं अर्थात् उन्हें दोहराना अच्छा लगता है, साथ ही साथ जैसे-जैसे उनका अवलोकन अधिक से अधिक निर्मल होता जाता है वैसे-वैसे वे अपने काम में आने वाली त्रुटियों को दूर करते जाते हैं। यदि बालकों के चित्रों में कहीं कमियाँ रह जाएँ तो

हमें उनमें सुधार करने की जरूरत नहीं है। हमें ऐसा वातावरण रचना चाहिए, जिससे कि बालक का अवलोकन अधिक से अधिक शुद्ध हो। इस संबंध में पीछे उल्लेख किया जा चुका है।

: 8 :

ज्यॉमितिक चित्रों के बाद बालक डालियों और पत्तों के चित्र बनाने लगेंगे। भाँत-भाँत की डालियाँ बनाकर रंग-बिरंगे पत्ते बनाएंगे और उन पर फूल भी बनाएंगे। जैसे पत्ते व फूल प्रकृति में नजर आते हैं, बालक वैसे फूल-पत्ते, उन्हीं रंगों में नहीं बनाएंगे। वे अपने अवलोकन से नए तरह के फूल-पत्ते बनाएंगे और हमें लगेगा भी कि उन्होंने फूल-पत्ते बनाए हैं, हमें लगेगा कि डालियाँ फूल-पत्तों से सजी हुई हैं। बच्चों के पास रंगीन पेंसिलें हैं ही, उनका उपयोग वे बड़ी ही सरसता सेकरेंगे।

ज्यॉमितिक आकृतियों में रंग भरते समय बालक दो प्रकार के रंगों का इस्तेमाल कर रहे थे—गहरे व हल्के। लेकिन इस स्तर तक आते-आते वे अपने आप रंगों का अभ्यास बड़ी ही बारीकी से करते नजर आए हैं। भारी हाथ से वे पेंसिलें चला कर गहरे रंग भरते हैं और हल्के हाथों से हल्के रंग लगाते हैं। लगता है उनका झुकाव गहरे रंगों से बदलकर हल्के रंगों की तरफ जा रहा है। कला रसिक बालक को हल्के रंग अधिक अच्छे लगते हैं।

ज्यॉमितिक आकृतियों में रंग भरते समय बच्चे अलग-अलग खानों में सोच-समझ कर रंग भरते हैं। कभी वे सभी खानों में एक ही रंग भरते हैं, कभी दो रंगों से सारे खाने भर देते हैं, तो कभी तीन, चार, पाँच या अधिक रंगों से भर देते हैं और कभी निश्चय करके एक भी रंग भरना नहीं चाहते।

जब बालक उपर्युक्त रीति से रंग भरते हैं तब यह भी सोचते हैं कि मिलते-जुलते रंग कहाँ लगाए जाएँ। आठ खाने होंगे तो पहले अमुक रंग ही लगाना है, ऐसा तय करके वे उतनी ही पेंसिलें बाहर निकालते हैं। तब वे खानों के लिए रंग निश्चित करते हैं और फिर रंग भरते हैं। किसी रंग को अनुक्रम से भरते हैं, कभी-कभी दो रंग आमने-सामने भरते हैं तो कभी पास-पास भरते हैं। इस प्रकार जैसे-जैसे रंग मिलते जाते हैं, वैसे-वैसे भरते जाते हैं और अपनी चित्रकृति को सुन्दर से सुन्दर बनाते हैं।

इसी तरह से वे डालियों, पत्तों व फूलों में मनपसन्द रंग भरते हैं। अपने सामने वे प्रकृति की कोई डाली या पत्ता रखते तक नहीं। उनके रंग भरने में पर्याप्त आजादी का इस्तेमाल करते हैं। वे अलग-अलग तरह के रंग भर कर मानो प्रकृति के तथा अपने बनाये चित्रों की रंग-शोभा की मन ही मन तुलना करते हैं। कभी-कभी यह भी होता है कि वे भाँत-भाँत की डालियाँ व पत्ते तोड़कर देखते हैं। तुलना करने के बाद आखिरकार वे पत्तों को हरे रंग में बनाना ही स्वीकार करते हैं और फूलों में यथा-संभव रंग-विविधता लाते हैं।

बाल-चित्रों के अध्ययनकर्त्ताओं को यह बात विशेष रूप से देखनी चाहिए कि इन चित्रों में बालकों का अवलोकन कितना प्रतिबिम्बित हुआ है। यह भी देखना चाहिए कि कौन-कौनसे बालक स्वयं काम करते हैं और कौन-कौनसे अनुकरण करने वाले हैं। अलबत्ता, ज्यॉमितिक आकृतियों से चित्र बनाने के प्रयास में बालक की सर्जनात्मक वृत्ति का ही प्राधान्य है, फिर भी उस स्तर पर अनुकरण करने वालों तथा स्वतंत्र मन से काम करने वाले बालकों को ढूँढ़ने में समय लगता है। लेकिन ज्यॉमितिक आकृतियों से जब बालक डालियाँ-पत्ते बनाने के स्तर पर आ जाते हैं तब तो तुरंत पता लग जाता है कि कौन-किसकी देखा-देखी अनुकरण से चित्र बना रहा है। अनुभव बताता है कि जो बालक कल्पना द्वारा नई-नई डालियाँ, पत्ते व फूल बनाने लगते हैं, वे सच्चे कलाकार होते है और जो बालक अनुकरण द्वारा चित्र बनाते हैं उनमें कला की वृत्ति का स्वाभाविक उद्‌गम नहीं होता। अतः शिक्षक ऐसे अनुकरणशील बालकों को उनकी मनपसंद की कोई अन्य स्वाभाविक प्रवृत्ति दे देते हैं और उन बालकों को अंधानुकरण करने से उबार लेते हैं। अनुकरण चित्र बहुधा मूल से भी सुन्दर होते हैं, पर उनमें मूल वाली सृजनात्मकता नहीं होती अतएव उनका मूल्य भी वही होता है जो अनुकृति का होगा।

: 9 :

यह स्तर पार कर लेने के बाद बालक पतिंगों के चित्र बनाने लगते हैं। हमारी धारणा से भी काफी समय पूर्व बच्चे पतिंगों के चित्र बनाने लगते हैं। ये चित्र बालक स्वाभाविक रूप से ही एक क्रमबद्ध प्रक्रिया से बनाते हैं, तथापि यह वहीं संभव है जहाँ पतिंगों का वातावरण हो। हमारे बाल मंदिर में प्रकृति ने यह वातावरण दिया है। वर्षाऋतु में पतिंगे अंडे देते हैं और उनसे नन्हीं-नन्हीं लटें बाहर

निकल आती हैं। आकड़े व अन्य पौधों के पत्तों की निचली परतों पर धीमे-धीमे चलती तथा पत्तों को कुतरती हुई इन लटों को बालक पकड़ लाते हैं, उन्हें काच के बर्तनों में रखते हैं, उन्हें पत्ते व हवा खिलाते हैं। काच के बरतन में रखी लटें बटक-बटक करती पत्ते खाती हैं, मल छोड़ती हैं और दिनों-दिन मोटी होने लगती हैं। बालक उन्हें खाने को नए पत्ते देते हैं, उनका मल साफ करते हैं और उनका अवलोकन करते हैं। लटों के साथ अपना समभाव देखते ही बनता है। वे उन्हें मोटी हुई देखकर खुश होते हैं। अपनी हथेली पर चलाकर आनंदित होते हैं। जब लट सो जाती है तो बालक गौर से देखते हैं कि अब इसका क्या होगा और रोजाना इंतजार करते हैं। किसी दिन अचानक काच के बरतन में पतिंगा नजर आता है, तो वह दिन आनंददायी बन जाता है। वातावरण में एक ही शब्द चारों तरफ गूंजने लगता है : 'पतिंगा....पतिंगा... पतिंगा!' बालक पतिंगे के प्रेमी बन जाते हैं। वे चारों तरफ उड़ने वाले पतिंगों को पकड़ने के लिए दौड़ पड़ते हैं। कभी पतिंगे पकड़ में नहीं आते, तो कभी आ जाते हैं। वे उन्हें पकड़कर, भाग कर, उनका अवलोकन करके, उनके रूप रंग, स्वभाव को जानकर उड़ा देते हैं। पतिंगे बालकों की आँखों में, मन में, समग्र जीवन में मानो प्रविष्ट हो जाते हैं और तब बालकों के मस्तिष्क, उनके हाथ, उंगलियों से होते हुए पतिंगे पेंसिलों के माध्यम से कागजों पर उतर आते हैं। वे उन्हें डालियों व पत्तियों में बिठाएंगे, उन्हें शृंगार के साधन के बतौर ज्यॉमितिक चित्रों में उतारेंगे और बार-बार पतिंगों की ही रचना करेंगे। प्रकृति में पतिंगों की ऋतु आएगी तो शाला में पतिंगों के चित्रों की ऋतु आएगी। ऐसे अवसर पर जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है शिक्षक को पतिंगों के चित्र शाला की दीवारों पर सजाने की जरूरत है।

: 10 :

इसके साथ ही अथवा बाद में प्राकृतिक चित्रों अर्थात् नदी, सागर, पर्वत, सूर्य आदि के चित्र बनाने का समय आएगा। बालक अपने आप प्राकृतिक दृश्य बनायेंगे। शिक्षक ने अब तक जो बताया होगा, उसका वास्तविक प्रतिबिम्ब अब ही पड़ेगा। शिक्षक शायद यह सोच रहा होगा कि बालक चारों ओर की प्रकृति को बड़ी गंभीरता से देखता है, लेकिन उसमें से कुछ चित्रित क्यों नहीं करता। इस संबंध में भी शिक्षक को विकास के क्रम तथा क्रिया का अध्ययन करना चाहिए।

हम बालक को जो कुछ बताते या समझाते हैं, वह सब तत्काल उग नहीं जाता। जिस प्रकार वृक्ष के बीजों को उगने में समय लगता है, उसी प्रकार बालक में बोये गए बीजों को भी अंकुरित होने, फूलने-फलने में समय लगता है, अतः शिक्षक को जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए, न उसे विश्वास खोना चाहिए, अपितु निष्ठापूर्वक इस बात की प्रतीक्षा करनी चाहिए कि उसकी तैयार की हुई फसल कब उगती है।

: 11 :

इस अवस्था से आगे बढ़ने पर बालक पशु-पक्षियों के चित्र बनाने में अपना रुझान व्यक्त करते हैं। न जाने क्या वजह थी, पर बालमंदिर के बालकों ने पशु-पक्षियों के चित्र बनाने में विशेष रुचि नहीं दिखाई। कदाचित् इसका एक कारण यह था कि अवलोकन के लिए पक्षियों और पशुओं की प्रत्यक्षता जिस स्वाभाविक रीति के साथ वातावरण में होनी चाहिए थी, वह बालकों को उपलब्ध ही नहीं थी। बालकों को तो क्या, बड़ों को भी पशु-पक्षियों की बहुत कम जानकारी होती है। पक्षियों के बारे में तो और भी अधिक अज्ञानता होती है। ऐसे में यदि बालकों में यह कमी रह जाए तो कैसा आश्चर्य!

पक्षियों के अवलोकन के लिए उन्हें पिंजरे में डालना उचित नहीं लगा। उनके लिए तो एक चबूतरा बनाने का प्रयोग करना चाहिए। पक्षी दाने चुगने या पानी पीने आएँ तो बालक सहज ही उनका अवलोकन कर ले और उसका लाभ चित्रों को मिले। इसी भाँति बालकों को कुत्ते, गधे, बिल्लियाँ, खरगोश आदि देखने को मिलें, ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए। जहाँ संभव हो सके वहाँ खरगोश और कुत्ते के छोटे-छोटे बच्चों आदि का पालन करना चाहिए। गाँव में जहाँ पशुओं के इकट्ठे होने का स्थान हो, वहाँ उन्हें ले जाना चाहिए। पक्षियों का परिचय कराने के लिए बालकों को चिड़ियाघर ले जाना चाहिए। उन्हें बार-बार मुर्गों, बत्तकों आदि का परिचय कराना चाहिए। आशय यह है कि बालकों को वन्य प्राणीघरों-जन्तुआलयों आदि स्थलों पर घुमाने ले जाना चाहिए। इससे चित्रकला की प्रवृत्ति में लाभ होगा ही होगा।

: 12 :

यहाँ एक अनुभव की बात बताना अप्रासंगिक नहीं होगा। सामान्यतः हमारे यहाँ के चित्रकार वैसे तो अच्छे ही हैं, पर उनके पास चित्रों के विषय

अधिक नहीं हैं। पशु-पक्षियों के चित्र बनवाने की मंशा से उनके पास जाने वालों को पता लगेगा कि उनका सृष्टि-दर्शन का अनुभव अधिक नहीं है। शालाओं में जिस प्रकार से आँखें मींचकर विद्यार्थी साहित्य पढ़ते हैं, वैसे ही नकलें कर-करके अथवा काल्पनिक चित्र बना-बनाकर वे चित्रकार बनते हैं। उनकी विषय संबंधी दरिद्रता दुखदायी होते हुए भी अस्वाभाविक नहीं है।

साधारणतया बालक आदमियों के चित्र काफी पहले से ही बनाने लगते हैं। प्रो. सली की पुस्तक से भी यह बात प्रमाणित होती है। गाँव के बालक अथवा जिन्हें व्यवस्थित रीति से शिक्षा नहीं मिलती वे बच्चे भी आदमियों के चित्र अधिक परिमाण में बनाते हैं। इस बारे में बालमंदिर का हमारा प्रयोग अलग बात बताता है। शुरू-शुरू में तो इन बालकों ने आदमियों के बेढंगे चित्र बनाये, पर आगे चलकर वे चित्र बंद कर दिए और जब पशु-पक्षियों के चित्र बनाने का दौर निकल गया तब फिर से आदमियों के चित्र बनाने लगे। आदमियों के चित्र बनाना जितना सरल है उतना ही कठिन भी। इसका कारण यह है कि इनके लिए प्रखर अवलोकन की जरूरत पड़ती है।

जिनकी आँखें अवलोकन के द्वारा संस्कारी नहीं होती, वे बेढंगे चित्र ही बना सकते हैं, उन्हें ऐसा करने में जरा भी अटपटापन महसूस नहीं होता। लेकिन जब बालकों की आँखें रूप रंग के अवलोकन द्वारा संस्कारित हो जाती हैं, जब उनका अवलोकन और भी पैना हो जाता है और जब बुद्धि द्वारा यह समझ विकसित हो जाती है कि चित्र का अर्थ है ऐसा रूप, ऐसा प्रमाण, ऐसा रंग आदि, तभी वे अपनी शक्ति को मापते-मापते आगे बढ़ते हैं और उत्तरोत्तर ऐसे चित्र बनाने लगते हैं कि जो उनके व्यवस्थित अवलोकन के कारण सुंदर दिखते हैं, न विसंगत दिखते न विकृत दिखते। भले ही उन्हें सम्पूर्ण कलाकृति न भी कहें, पर वे चित्रकला के अंग बेशक प्रतीत होते हैं। यदि बालक पहले से ही रम्य प्रकृति तथा सुंदर चित्रों का अवलोकन करने लगें तो निश्चय ही उनकी रसात्मकता बढ़ेगी। इस रसात्मकता से उनके सृजन में मर्यादा आएगी। मनुष्य में जो भिन्न-भिन्न प्रकार की मर्यादाएँ हैं अर्थात् संयम है, वह रसिकता की ही परिणति है। अरसिक मनुष्य का सृजन नियमों को भूल जाता है, विकृति का उसे पता नहीं चलता, अशुद्धि उसकी पकड़ में नहीं आती। जब तक बालक आकारहीन बेढंगे चित्र बनाता है तब तक उसमें अरसिकता की ही बहुलता रहती है। तभी तो हम सरस वातावरण एवं सुंदर दर्शन-अवलोकन को कला-सृजन की साधना के लिए आवश्यक शर्त मानते हैं।

जब बालक आदमियों के चित्र बनाने लगते हैं, तब वे मात्र आकृतियाँ बनाने के लिए ही चित्र नहीं बनाते। चित्र की मूल्यवत्ता कुछ हेतु बनाने में निहित होती है। प्रकृति को प्रकृति के जैसा ही चित्रित करने के बावजूद यदि उसमें प्रकृति के जैसी जीवंतता न हो तो प्रकृति-चित्र महज एक जड़ चित्र बन जाता है। इस बात का बालक भी अनुसरण करते हैं। यह अनुभव सिद्ध है, अतः मानना ही पड़ता है। एक बालक ने मनुष्य के स्वभाव को प्रतिबिम्बित करने वाले ऐसे व्यंग्य-चित्र बनाए थे कि कोई यह मान ही नहीं सकता कि वे एक बालक के द्वारा बनाए हुए थे, पर जो बालक प्रारंभ से ही व्यवस्थित रीति से रूप-रंग की सरसता से संस्कारित है, यदि वह ऐसे चित्र बनाता है तो उसमें कैसा आश्चर्य! विदेशों में प्रो. सीजेक के विद्यालय में वहाँ के बालकों ने बड़े ही अद्‌भुत चित्रों का सृजन किया है। इसके मूल में चित्रकला का वातावरण पैदा करने की विशेषता तथा उनमें आत्मविश्वास पैदा करने की विशेषता ही प्रमुख चीज है।

पंद्रह वर्ष पूर्व मेरे मित्र का उत्तर मुझ पर बर्फ के पहाड़ों की मानिंद पड़ा था, पर मैं उस पहाड़ को हटाने में समर्थ हुआ। मुझे बालकों की शक्ति में विश्वास था। मैंने यह विश्वास बालकों में जागृत किया और बालकों ने सुंदर-सुंदर चित्रों की रचना की। उन्होंने ऐसे-ऐसे चित्र बनाए कि जिन्हें देखकर यही कहा जा सकता है कि क्या यह बालकों की कल्पना की उपज थी? उन चित्रों को बनाने वाले बालक अपने ही पुराने चित्रों को देखकर साश्चर्य कह उठे थे —'क्या ये चित्र हमने बनाए थे?'

मूल बात है बालकों में आत्मविश्वास जगाने की। प्राथमिक विद्यालयों की शिक्षण पद्धति उनके आत्मविश्वास को कुचल देती है और इसके बजाय उनमें अविश्वास-अनास्था अर्थात् नास्तिकता के भाव पैदा कर देती है। 'तुम नहीं बना सकोगे'—ऐसा कहने वाले दूसरों की आत्मा का हनन ही करते हैं। इसके बजाय 'तुम जानते हो, तुम्हें करना आता है' —ऐसा कहने वाले अपनी व दूसरों की आत्मा के तारक हैं, प्रकाशक हैं।

प्राथमिक शाला का जो शिक्षक अथवा कोई अन्य शिक्षक जो बालकों में आत्मविश्वास पैदा करेगा, वही उनका सही मायने में भला करेगा। वही उनको विषयों का सच्चा शिक्षण करा सकेगा। प्राथमिक शाला के शिक्षक को पूरी कक्षा का

वातावरण बदलना होगा, तभी उस वातावरण का लाभ चित्रकला के सर्जक को स्वयमेव प्राप्त हो सकेगा।

यदि एक बार बालक यह जान लेगा कि वह चित्र बना सकता है, यदि एक बार उसके द्वारा बनाये गये चित्र को कमियाँ निकाले बिना शिक्षक प्रसन्न होकर स्वीकार कर लेगा, तभी हमें पता लग सकेगा कि बालक में कितनी कला-दृष्टि और सृजन-शक्ति है। बालमंदिर के बालकों ने हजारों चित्र बनाये हैं। एक-एक बालक ने इतने सारे चित्र बनाये हैं कि उनकी गिनती करते, उन्हें सजाते हम थक जाएँ। ऐसी अकल्पनीय कलासृष्टि का मूल आत्मविश्वास तथा रसिक-दृष्टि में है। इसका मूल सृजनशक्ति को निर्विरोध भाव से प्रवहमान होने देने हेतु रचे गए शुद्ध वातावरण में है। प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापक ऐसी परिस्थिति कब पैदा करेंगे?

: 13 :

अब जरा यह देखें कि बालक जो रंग भरें तो किस तरह के रंगों का प्रयोग करें। शुरुआत तो उन्हें रंगीन पेंसिलें अथवा क्रेयोन दिये जाने चाहिए। उन्हें रंगीन पेंसिलें इसीलिए दी जाएँ ताकि उनसे उन्हें बहुरंगी चित्र बनाने की प्रेरणा मिले। इसी भाँति रंग-बिरंगे कागज भी उनमें नए-नए चित्र बनाने का उत्साह बढ़ाते हैं, क्योंकि बालक नए-नए रंगों द्वारा नए-नए रंगों के कागजों पर तरह-तरह के चित्र कैसे दिखते हैं, यह अनुभव करना चाहते हैं। उनकी इस चाह को इन साधनों से प्रोत्साहन मिलता है। उनकी इस स्वाभाविक चाह को पूरा करने से उस सामग्री के द्वारा उत्तेजन नहीं मिलता, पर उनकी क्रियाशक्ति अधिक विशाल बन जाती है तथा सृजन की विविधता पूरी होती है— यही एक लाभ है। यहाँ यह बात भी ध्यान रखने की है कि पुनरावर्तन शिक्षण का प्राण है अतः विद्यालय में बालकों के लिए ऐसी व्यवस्था अवश्य की जाए ताकि उनका पुनरावर्तन आनंददायी बन जाए।

धीरे-धीरे बालकों को वाटर-कलर दिये जा सकते हैं। रंगों में रुचि लेने वाले तथा पेंसिलों से चित्र बनाने में नियंत्रण प्राप्त कर लेने वाले बालकों को ब्रुश और रंगों का बक्सा दिया जा सकता है। नियंत्रण तभी माना जाना चाहिए कि जब बालक ज्यॉमितिक आकृति में रेखाओं को समानांतर, सीधी तथा पास-पास बनाने लगे अर्थात् आकृति विशेष में रेखाएँ इस तरह भरी हुई हों कि उन्हें देखकर

कसीदाकारी जैसा आभास होने लगे। इस संबंध में 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा' नामक पुस्तक में रेखाओं वाला अध्याय (पृष्ठ 51) अवश्य देख लें।

बालक को प्रत्येक साधन सौंपे जाते समय उसे यह अवश्य बताया जाना चाहिए कि उसका क्या उपयोग है। वाटर कलर के रंगों और ब्रुश को किस तरह काम में लें, ब्लॉटिंग पेपर का क्या उपयोग करें, स्वच्छता कैसे रखें आदि बातें बालक को अवश्य बताई जानी चाहिए। बताने से मेरा आशय यह है कि यह सम्पूर्ण काम अच्छी तरह से कैसे किया जाए, यह खुद करने के लिए हमें बैठना चाहिए और बालक को बैठे-बैठे देखने देना चाहिए। मुँह से यह कहने की जरूरत नहीं है कि ऐसे करो और वैसे करो। चुपचाप देखते-देखते बच्चे स्वयं स्वच्छता और व्यवस्था का ध्यान रखने लगेंगे। ऊपर जो बातें पेंसिलों के बारे में लिखी गई हैं, वही बातें वाटर-कलर के बारे में ध्यान रखने की हैं। अर्थात् बालक जो-जो चित्र बनाएँ उनमें स्वेच्छा से पेंसिल अथवा जलरंग भर सकें। पेंसिल की तरह जब बालक ब्रुश पर नियंत्रण हासिल कर ले तो उसे ब्रुश को मजे से प्रयोग में लेने देना चाहिए।

: 14 :

अब हम अनुकरण-चित्रों पर थोड़े विस्तार से विचार करें। किसी की देखा-देखी जब चित्र बनाये जाते हैं तो उसमें बनाने वाले का अपना दिमाग नहीं लगता, यह बात मैं ऊपर कह आया हूँ। मौलिक चित्र वे होते हैं जो अंदर से उपजने वाले आर्विभाव के परिणाम स्वरूप होते हैं। फिर भी हमें अनुकरण-चित्रों की मूल्यवत्ता पर विचार कर लेना चाहिए। बालमंदिर में किए गए प्रयोग तथा नीचे जो दृष्टांत दिए जा रहे हैं, उनके परिप्रेक्ष्य में मूल्यवत्ता पर विचार करना समीचीन होगा। इस दृष्टांत के द्वारा अनुकरण के बारे में मेरे विचारों को समझा जा सकता है।

कुसुम अनुकरण-चित्र बनाने वाली चित्रकार के रूप में प्रसिद्ध है। वैसे उसके अनुकरण में कुछ न कुछ विशेषता अथवा नवीनता तो विद्यमान रहती ही है। कांता, काशी, सूरज आदि लड़कियाँ भी स्वतंत्र तथा अनुकरण चित्र बनाने वाली चित्रकार हैं, लेकिन अनुकरण चित्र बनाने में इनकी प्रसिद्धि कम हैं। कुछ अनुकरण और कुछ मौलिकता के मेलजोल से ये अच्छे चित्र बना लेती हैं। यही बात राम की है, पर ये दोनों मौलिक काम भी करते हैं और इनके सम्प्रदाय अलग-अलग हैं।

विजया स्वतंत्र है, साथ ही अनुकरणशील भी। उसके अनुकरण में स्वतंत्र चित्रों की अपेक्षा अधिक सुंदरता दिखाई देती है। इन्दुमती शायद ही अनुकरण करती हो। वैसे वातावरण के प्रभाव को अलग-अलग ढंग से व्यक्त करने में जो अनुकरण रहता है वह सभी मौलिक काम करने वालों में देखा जाता है। अभी तक अनुकरणशीलता ने अपना विशिष्ट सम्प्रदाय स्थापित नहीं किया है। अभी तक यद्यपि अनुकरण का सख्त विरोध नहीं किया गया है, तथापि हमारी यह दृष्टि बनी रही है कि बालक अधिक से अधिक मौलिकता की तरफ जाएँ—और इस दृष्टि ने कुछ प्रतिशत में बालकों को मौलिकता की ओर प्रवृत्त किया भी होगा। लेकिन आजकल अनेक बालक अनुकरण चित्र अधिक मात्रा में बनाने लगे हैं। सुशीला उनमें मुख्य है।

सुशीला ने पिछले दो महीनों में कुल मिलाकर अनुकरण चित्र ही बनाए हैं। जब पहले पहल उसमें अनुकरण वृत्ति देखने को मिली थी, तब उस दिशा में जाने से रोकने के लिए प्रत्यक्ष-परोक्ष तरीके अपनाए भी गए थे। उसके पीछे यही धारणा थी कि वह अनुकरण चित्रों की बजाय मौलिक चित्र बनाये तो उत्तम रहे अथवा मौलिक चित्रों की बजाय यदि वह अनुकरण चित्र बनाने की तरफ बढ़ जाएगी तो उसकी मौलिकता को हानि पहुँचेगी। ये बातें अकारण नहीं थी। कुसुम आदि उसकी सहेलियाँ अनुकरणशील थी। उन लोगों के साथ रहने के कारण उसे भी अनुकरण चित्र बनाने में मजा आता था और उस आनन्द में यह संभव था कि वह अपनी मौलिक वृत्ति को कहीं ताक पर न रख दे अथवा कई बार छुतही बीमारी से ऐसी बातें हो जाती हैं। यही बात उसके साथ घटित हुई। उसे बार-बार अनुकरण वृत्ति से अलग हटाने के प्रयत्नों के बावजूद ऐसा साफ लगा कि वह अनुकरण की ओर जा रही थी। अनुकरण वृत्ति से दूर धकेलने के मेरे प्रयासों का उसे कुछ-कुछ आभास हो गया था इसलिए वह कई बार मेरे पास आकर अनुकरण करने के लिए इजाजत माँगती अथवा कहती : 'मेरे इस चित्र में थोड़ा-सा तो कुसुम का अनुकरण है और शेष मेरा है। कई बार वह इतनी होशियारी से अनुकरण करती कि यह पता लगा पाना कठिन था कि मूल चित्र सुंदर है या अनुकरण चित्र सुंदर है। वह जो अनुकरण करती थी, वह उसकी सहेलियों के मूल चित्रों से अधिक सुंदर और शीघ्रता से करती थी। जब-जब उसे जैसी-तैसी रीति से अनुकरण से हटाने का प्रयत्न किया जाता, तब-तब वह निराश हो जाती, उसका उत्साह कम हो जाता और वह कहने लगती : 'मुझे तो कुछ भी नहीं सूझता' और यों कहती हुई वह

काम करना ही छोड़ देती । अंत में मुझे यह स्वीकार करना पड़ा कि उसके भीतर अनुकरण की एक भावना अथवा मनोवृत्ति पैदा हो गई है और मुझे कहना पड़ा : 'तू जब चाहे और जितने चाहे' भले ही अनुकरण-चित्र बनाए यह सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुई और झपाटे के साथ अनुकरण चित्र बनाने लगी । वह इस हद तक अनुकरण करने लगी कि कुसुम अथवा इन्दुमती जैसे चित्र बनाती थी, वैसे के वैसे बनाने का प्रयत्न करने लगी । जो पेंसिलें वे काम लेतीं, यह भी लेती । उनके चित्र जितने खराब होते, उतने ही इसके भी होते । कहने का आशय यह कि वह 'कापी टु कापी' अनुकरण करने लगी । कई बार तो मानो वह अपनी स्वाभाविक सुंदरता, हाथों का नियंत्रण, रंगों की सरसता, रूप सज्जा को भूल चुकी हो, इस प्रकार किसी चित्र का बड़ी ही वफादारी के साथ सम्पूर्ण अनुकरण कर गुजरती । उसके लिए अनुकरण महज अनुकरण ही था ।

अन्य बालक भी इस अवधि में ऊपर का काम ही करते थे । उन सबमें कुसुम, लीला, वसुमति और सूरज व काशी अलग ही थीं । ये सब न्यूनाधिक रूप से अनुकरण में वफादारी तो रखती ही थी क्योंकि इनके लिए अनुकरण का यही अर्थथा ।

एक बालक पहले चित्र बनाता, पास बैठे बालक उसका अनुकरण करने लगते । ज्यादातर तो इन्दुमति ही पहले चित्र बनाती थी और सब के सब उसका अनुकरण करने लगते । कुसुम का अनुकरण भी कई बार किया जाता था । सुशीला में केवल अनुकरण की वृत्ति ही थी, मानो वह जानबूझ कर ही मौलिक चित्र नहीं बनाना चाहती हो । वैसे आजकल सुशीला में अनुकरण करने की वृत्ति बहुत जोर-शोर के साथ है । उसमें यह वृत्ति कैसे आई होगी, यह तो जब मालूम होगा तभी सही । अभी तो अनुमान ही लगाया जा सकता है । सुशीला ठहरी ज्यॉमितिक सम्प्रदाय की । आज तो वह इस सम्प्रदाय से निकल गई है फिर भी ज्यॉमितिक सम्प्रदाय को अलग ढंग से व्यक्त करती है । मैंने उससे पूछा था कि वह अनुकरण चित्र क्यों बनाती है । इस पर उसने ये उत्तर दिये :

प्र : अनुकरण चित्र बनाना अच्छा लगता है ?

उ : हाँ !

प्र : क्यों ? किसलिए ?

उ : सही होते हैं, इसलिए ।

प्र : किस-किस तरह के अनुकरण चित्र बनाना पसंद करती हो ?

उ : पेड़, फूल आदि के ।

प्र : स्वतंत्र चित्रों में कौनसे पसंद आते हैं ?

उ : पेड़, फूल, पक्षी आदि ।

प्र : तो तुम स्वतंत्र चित्र क्यों नहीं बनाती ?

उ : अभी-अभी भूल गई हूँ । मन में ही नहीं आते ।

प्र : मन में कैसे आते हैं ?

उ : आँखें बंद करने पर आते हैं । अब तो जैसे अच्छे न लगने वाले फूलों के चित्र आते हैं ।

प्र : वे चित्र भले ही आएँ । हम उन्हें क्यों मना करें ?

उ : पर ऐसे चित्र अच्छे नहीं लगते ।

प्र : और कौन-कौन अनुकरण चित्र बनाते हैं ?

उ : इन्दु को छोड़कर सभी अनुकरण चित्र बनाते हैं ।

प्र : सचमुच के पेड़-पौधे और उसके चित्र—इन दोनों में से किसका अनुकरण करना अच्छा लगता है ?

उ : पेड़-पौधे के चित्र का ।

प्र : क्यों ?

उ : सचमुच के पेड़-पौधे को तो बहुत बारीकी से देखना पड़ता है । यदि देखने के लिए शीशा हो तो डालियों का चित्र सही-सही बनाया जा सकता है ।

इस बातचीत से स्पष्ट है कि प्रकृति के अवलोकन में जिस सूक्ष्म रसिकता की जरूरत पड़ती है, शायद सुशीला में उसकी थोड़ी-बहुत अपूर्णता होगी, तभी तो वह सीधे-सीधे प्रकृति का अवलोकन करने के बजाय उसके चित्र का अनुकरण करती है । एक कारण यह भी हो सकता है कि सुशीला प्रकृति सौंदर्य की बारीकियों को पकड़ने के लिए मुद्रित प्रकृति का अनुसरण करती हो । ऐसा करने से बाँकी-सीधी रीति से साक्षात् प्रकृति की बारीकियों के नियम को समझा जा सकता है । इसके कारण को शायद वह स्वयं नहीं समझ रही थी ।

डॉ. मोंटेसरी ने रेखाचित्रों में रंग भरने का जो क्रम रखा था, उसके पीछे एक कारण यह भी है कि बालक जिन रेखाचित्रों में रंग भरें उनको समझने भी लगें और उनके माध्यम से प्रकृति की बारीकियों को देखने भी लगें। अनुकरण चित्रों के द्वारा उन चित्रों में विद्यमान रूप-रंग को कितनी सूक्ष्मता से परखा जा सकता है, और कितनी सफाई से उतारा जा सकता है, इसकी भी कड़ी जाँच हो जाती है। ऐसा भी होता है कि अनुकरण चित्र अब तक बनाए गए कल्पना-चित्रों में निकल कर वास्तविक चित्रों की तरफ आने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। अनुकरण-चित्रों के द्वारा यह देखा जा सकता है कि बालक किन-किन प्रकार के चित्रों का अनुकरण नहीं कर पाए। मनुष्य, पतिंगे, पशु,पक्षी अथवा पदार्थों का अनुकरण करना उसे कठिन महसूस होता है। कई बार वैसी वस्तुओं का अनुकरण करना बालक छोड़ देते हैं। अनुकरण में भी बालकों की पसंद का सवाल मौजूद रहता है। नदी, पर्वत, पेड़-पौधे, सूर्योदय, सूर्यास्त आदि दृश्य बालकों के अनुकरण के प्रधान विषय हैं। इस स्तर तक आते-आते बालकों में कलात्मकता का भाव पक्का हो जाता है, यह बात स्पष्ट देखने में आती है।

अनुकरण में भी श्रेष्ठ अनुकरणकर्ता, मध्यम अथवा कनिष्ठ अनुकरणकर्ता के भेद देखने में आते हैं। जो भेद बालकों की मौलिकता में हैं, वे कला की परिपूर्णता में भी हैं और वे अनुकरण-चित्रों में भी है। हवा आती है तो सबको छूती है, वैसे ही सभी बालक अनुकरण चित्र बनायेंगे ही। लेकिन उनकी संख्या तो उनके अन्य चित्रों की सापेक्षता में रहेंगी। प्रत्येक बालक अनुकरण चित्र बनाते समय अपनी-अपनी कक्षा (स्तर) बताये बिना नहीं रहते। लगता है कि अनुकरण चित्रों का भी स्वाभाविक स्थान होता है। बालक इस क्षमता को भी अर्जित कर लेना चाहते हैं ताकि इस क्षमता द्वारा प्राप्त होने वाले लाभ लिए जा सकें। कभी ऐसा भी होता है कि अनुकरण-कला में व्यस्त हो जाने वाले बालक यहीं अटक जाते हैं अथवा वे इसी काम में पूर्ण कौशल सिद्ध कर लेते हैं। पर इस वय में ऐसी बात कैसे स्वीकार की जा सकती है?

अंबु जब बालमंदिर में थी, तो सुन्दर अनुकरण-चित्र बनाती थी, पर आज उसने चित्र बनाना छोड़ दिया। यह कैसे हुआ, किन परिस्थितियों में हुआ, उसके बारे में ज्ञात किया जा सकता है, पर यह उदाहरण ध्यान में रखने योग्य है। चित्रकला में मौलिकता अमूल्य चीज है, पर अनुकरण का भी स्थान तो है ही।

जिस प्रकार साहित्य में अनुवाद का महत्त्व है उसी प्रकार कला में सुंदर अनुकरण का भी स्थान है। शायद यह उदाहरण युक्तिसंगत न लगे, फिर तो बात को समझा जा सकता है। देश-विदेश की सुंदर मूल कलाकृतियों को भुला देने वाली कई अनुकृतियाँ हैं, वे भी समान रूप से दर्शनीय एवं महत्वपूर्ण है। अनुकृतियाँ होने के कारण वे आँखों से दूर हटा देने योग्य तो नहीं हैं।

अब जरा सुशीला की स्थिति के बारे में भी विचार कर लें। जब से उसको अनुकरण करने की आजादी दी है तब से वह मौलिक चित्र भी बनाने लगी है। कहती है कि मुझे ऐसे चित्र बनाने नहीं आते। इसका यह अर्थ हुआ कि उसने कल्पना एवं स्मृति से इतने सारे चित्र बना लिए हैं कि अब उसके दिमाग में कोई नई बात शेष ही नहीं रही। उन्हीं उन्हीं विषयों को अलग-अलग ढंग से चित्रित करने में उसे जितना आनंद पहले आता था, शायद वह अब कम हो गया है। ऐसे में उसका स्तर प्रकृति को देखकर चित्र बनाने का है।

रेखाचित्रों में रंग भरना तथा अनुकरण चित्र बनाना एक तरह से चित्रकला की पूर्व तैयारी स्वरूप है। उल्टे सुशीला के कहे अनुसार रेखाचित्रों में रंग भरने के काम की बजाय अनुकरण-चित्र अधिक मुश्किल हैं, क्योंकि उसमें रेखा भी बनानी पड़ती है।

अब देखना यह है कि सुशीला किस दिशा में जाती है और उसका अनुकरण चित्र का भविष्य आगे चलकर क्या होता है?

: 15 :

ऊपर के विवेचन में बताया गया है कि बालकों के सामने उत्तम वातावरण निर्मित करने हेतु चित्र उपलब्ध कराये जाने चाहिये। शिक्षक को यह बात निरन्तर ध्यान रखनी चाहिए कि वह बालकों के समक्ष किन-किन कारणों से वे चित्र प्रस्तुत कर रहा है। इस संबंध में मोंटेसरी शिक्षकों के लिए मैंने 'शिक्षण पत्रिका' में जो विचार व्यक्त किए थे उन्हें प्राथमिक शालाओं के शिक्षकों के लाभार्थ यहाँ व्यक्त कर रहा हूँ।

बालकों की मनपसंद की प्रवृत्ति है चित्रों को देखना। चित्र रंगीन हो या न हो, बालक स्वाभाविक रूप से उसकी तरफ आकृष्ट हो जाता है। वह उसको देखता

है और उसमें क्या है, यह जानकर 'यह है, यह है' कहता हुआ प्रसन्नता व्यक्त करता है। जिस प्रकार उसे अपने आसपास की रंग-रूप की दुनिया को देखने में एक प्रकार का आनंद मिलता है, उसी प्रकार चित्र में उसी दुनिया को भिन्न रीति से चित्रित देखकर एक अलग प्रकार का आनंद प्राप्त करता है। पहचानने में जो आनंद मिलता है, वह उसे यहाँ उपलब्ध होता है। चित्र देखकर वह कहता है : 'यह गधे जैसा, यह आकाश जैसा, यह पानी लगता है' आदि। चित्र देखकर बालक खुश होता है। उसकी एकाग्रता बढ़ जाती है। प्रसन्नता से एकाग्र बना बालक सुख एवं तंदुरुस्ती की साँस लेता है। वह दूसरों को बाधा नहीं पहुँचाता। उसे शांत व एकाग्र देखकर वह सोचने लगता है कि कहाँ गया होगा ? लेकिन तभी वह हमें किसी टेबिल के पास चित्रों का अवलोकन करता दिखाई देता है।

जब बालक चित्र देखता है तो वह प्रसन्न होता है और अपना विकास सिद्ध करता है, यही सच्ची बहुमूल्य चीज है। उसके साथ ही साथ हम अन्य लाभ भी देख सकते हैं।

सभी तरह के चित्र देखकर बालक आकृष्ट नहीं होते। किसी को रंगीन चित्र अधिक अच्छे लगते हैं तो किसी को श्वेत-श्याम। किसी को पशु-पक्षियों के चित्र अधिक अच्छे लगते हैं तो किसी को जीवजंतुओं के, मनुष्यों-प्राणियों के, भौमितिक आकृतियों के या प्रकृति चित्र अच्छे लगते हैं। इसके पीछे एक कारण तो वातावरण के परिचय का हो सकता है, और दूसरा कारण आंतरिक रुझान का हो सकता है। बालक को अपने आसपास जो-जो चीजें अधिक से अधिक मात्रा में देखने में आएंगी, उन-उन वस्तुओं को वह शीघ्र पहचान लेगा, और उनको देखने में अधिक से अधिक रुचि लेगा। इसके विपरीत यह भी संभव है कि जो चीजें उसके वातावरण से सम्बद्ध नहीं हैं, उन्हें चित्र में देखकर उसके मन में कुतूहल जागेगा और इस कारण भी वह चित्रों को रुचि लेकर देखेगा। इस प्रकार कहना न होगा कि वातावरण बालक को चित्र देखने में दो प्रकार से आकृष्ट करता है। दोनों में अंतर होने का एक अन्य कारण है आंतरिक रुझान। कुछ बालक रूप-मन के होते हैं तो कुछ रंग-मन के, अर्थात् कुछ रूप के द्वारा सौंदर्य को समझते हैं, और उसमें आनंद लेते हैं, तो कुछ रंग के द्वारा ऐसा करते हैं। यह भेद चित्र-दर्शन के समय दिखाई देता है। बालकों की पसंद आंतरिक जरूरत पर निर्भर करती है। भूख लगती है तब

भी बालक अमुक प्रकार का भोजन विशेष रूप से पसंद करता है और अमुक प्रकार का भोजन पसंद नहीं आता तो छोड़ देता है, इसी भाँति चित्रकला में अपने उस समय के विकास के स्तर पर या तो बालक अपने सौंदर्य-बोध के कारण पशु-पक्षियों पर अधिक मोहित होगा तो किसी को पतिंगे बनाने में ही अधिक आनंद मिलेगा। इस पसंदगी के पीछे उसकी सम्पूर्ण कला-दृष्टि और आगे चलकर कला द्वारा विशेष रूप से व्यक्त होने वाला मार्ग विद्यमान है। आशय यह है कि पशु-पक्षियों पर प्रीति रखने वाला बालक संभवतः अच्छा पशुपालक बन सकता है, या उस विषय का अच्छा चित्रकार हो सकता है या फिर चित्रकला से संबंध रखने वाले किसी भी विषय के प्रति आकृष्ट हो सकता है। चित्र बनाने में लीन बालक को देखकर हम उसके बारे में बहुत सारी बातें जान सकते हैं।

चित्रकला में अभिरुचि बढ़ाने के लिए बालक के चारों ओर तदनुरूप वातावरण होना चाहिए। वातावरण का उसके लिए वही महत्व है जो खेती के लिए खाद व पानी का। उसी से वह अपने पोषण के वांछित तत्त्व ग्रहण करता जाता है। शरीर तथा मन के पोषण के लिए वांछित वातावरण जुटाने में शिक्षा की जबरदस्त भूमिका है। प्रत्येक घर में थोड़े-बहुत चित्र तो होने ही चाहिए। अब यह बात बाद की है कि वे चित्र कैसे हों, पहले यह स्वीकारना जरूरी है कि चित्र होने चाहिए अतः चित्र मँगाए जाएँ। चित्रों को उतनी ही ऊँचाई पर टाँगा जाए ताकि बालक उन्हें देख सकें। उनकी साज-सज्जा का सवाल बाद का है। चित्र मँगाना पहला काम है। बालक के पास भाँति भाँति के चित्रों का एक संदूक होना चाहिए।

अब जरा यह सोचें कि चित्र कैसे हों ? नंगे और अशिष्ट चित्र न हों। बालकों के लिए ही जब चित्र सँजोने हैं तो प्रौढ़ रुचि को हावी न होने दें। चित्र ऐसे भी न हों कि जिन्हें हम चित्रकला की दृष्टि से नितांत घटिया मानते हों। बालकोचित चित्र वे हैं, जिनके विषय बालकों को पसंद आते हैं। उदाहरण के लिए प्राणियों—मेंढ़क, गाय, घोड़े, बगुले, हिरण, शेर का चित्र अथवा फूलों-फलों के चित्र। आसपास घटित होने वाली घटनाओं के चित्र बनाना बालक को पसंद है जैसे घास से भरी गाड़ी, बेर बेचने वाली, गायें दुहता ग्वाला। आकाश, सूर्य, चंद्रमा, समुद्र आदि प्राकृतिक दृश्यों के चित्र यदि सुंदरता से चित्रित किए हुए हों तो वे बालक को पसंद आते हैं। भले ही चित्र अपने विषय में सादे हों, पर उनकी कारीगरी व कलाकृति तो पूर्ण होनी चाहिए। बालक वास्तविक दुनिया में जैसे हृष्ट-

पुष्ट व सुंदर घोड़े को देख कर आनंदित होता है, चित्र भी वैसा ही सम्पूर्ण हो तो बालक पसंद करता है । वह चित्र की पूर्णता को समझता है । जिस प्रकार के चित्र बालक बनाते हैं वैसे अनगढ या आधे-अधूरे चित्र बनाकर यदि हम उनके सामने रखेंगे, तो बालक के हर्गिज पंसद नहीं आएंगे । बालक के हाथ में या उसके काम में अपूर्णता संभव है, पर उसकी आँख को सम्पूर्णता देखना आता है, उसे बेडौल चित्र देखना पसंद नहीं । बालक को भोजन बनाना नहीं आता, वह भोजन को कच्चा रख देगा, इसका अर्थ यह नहीं कि उसे बिना पकी कच्ची वस्तुएँ खाने के लिए परोसी जा सकती हैं । इसी तरह बालक को अनगढ कच्ची या अधूरी कलाकृतियाँ नहीं परोसी जा सकतीं । उसके लिए तो सुंदर और संपूर्ण चित्र ही होना चाहिए ।

बालकों के लिए चित्रों के संबंध में उपर्युक्त विवेचन प्राथमिक रूप से विचारणीय है । अभी तो हमें बालकों को चित्रों के मध्य छोड़ कर उनकी पसंद के विषयों, रंगों, रचनाओं आदि के बारे में पता लगाना है । इसी के आधार पर हम उन्हें अधिक उपयोगी चित्र-वातावरण दे सकेंगे । अतएव उन्हें चित्रों के बीच बिठाने के बाद हमें उनका सतत अवलोकन करना है, उनकी पसंद और क्रम का पता लगाना है और इस प्रयोग के उपरांत जिस प्रकार पुस्तकालय स्थापित करने के अमुक नियम बनाये जाते हैं वैसे ही हमें बालकों के लिए चित्र-संग्रह बनाने के नियम तय करने चाहिए ।

बालकों के देखने के लिए हमको उनके सामने चित्र अवश्य रखने चाहिए, पर चित्र वही हों, जो हम उन्हें दिखाना जरूरी समझते हैं । अगर हमारे पास बहुत-से चित्र हों तो उनके सामने ढेर लगा देने से वे उलझन में पड़ जाएंगे और कुछ भी देखने से उकता जाएंगे । उनकी दशा 'यह देखूँ या वह देखूँ' जैसी अस्थिरता वाली हो जाएगी । व्यग्रता के कारण उन्हें थकान और ऊब आने लगेगी । अतः खरीदे गए चित्रों में से जितने कमरे में टाँगे जा सकें, उतने टाँग दिए जाएँ और कुछेक चित्र छोटी-सी टेबिल पर देखने के लिए रख दिए जाएँ । बालकों के देखने वाले चित्र खुले हों । कभी बालक के लिए अलग से ही कोई चित्र पेटी जुटाई जा सकती है । जब बालक उन चित्रों को देखना बंद कर दें या वे नए चित्रों की माँग करें तो नए चित्र दिए जाएँ और पुराने चित्र सँभाल कर रख दिए जाएँ । दीवार पर लगे चित्रों को कुछ अंतराल से बदला जाना चाहिए । हमारे यहाँ तो एक बार जो चित्र दीवार पर टाँग दिए सो टाँग दिए । ऐसा न करें ।

सच पूछें तो बच्चों को स्वयं ही चित्र देखने दें । चित्र देखने का आनंद उन्हें अपने आप लेना है । इसके लिए उन्हें अपनी ही आँखें व मन काम में लेना है । हम लोग जो वर्णन करेंगे उससे चित्र नहीं देखा जाएगा, वह तो आँखों और अवलोकन की वृत्ति से ही देखा जाएगा अतएव हमें बालकों को चित्र दिखाने के लिए बैठने की जरूरत नहीं है । ऐसा करने से अव्वल तो वे हम पर अवलम्बित हो जाएंगे, फिर स्वयं देखने की बजाय हमारे द्वारा दिखाये जाने पर ही देखेंगे अथवा जब-जब हम दिखाएंगे तभी वे देखेंगे; ठीक वैसे ही, जैसे हम उन्हें शैशवावस्था में बार-बार खिलाते हैं । इससे हमें बिना बात उनके लिए व्यस्त होना पड़ेगा और बालक को कोई विशेष लाभ नहीं होगा । बालक जब भी हमसे पूछने आएँ तब हमें उन्हें चित्र से संबंधित सारी घटना अवश्य बतानी चाहिए । हमें बालक की जिज्ञासा को पोषित अथवा तृप्त करना चाहिए । पर अपनी मर्यादा का भी ध्यान रखें । हम उन्हीं के प्रश्नों का जवाब दें अथवा वे चाहें तो सवाल पूछ कर उन्हीं से उत्तर पूछें । पूरे चित्र की कहानी सुनाने की हमें चेष्टा नहीं करनी चाहिए, भले ही वह कितना ही सरस व उपयोगी क्यों न लगे । भले ही रामायण की कथा हो, पर यदि बालक चित्र के अनुसार कथा सुनना चाहे, तभी उसे सुनाएँ । हमें निरंतर ध्यान रहे कि बालक का आनंद मूलतः चित्र देखने में है । चित्र के अवलोकन में उनका आनंद व दृष्टि बढ़ाने के लिए जितनी वांछनीय हो, उतनी बात उन्हें अवश्य बता सकते हैं । चित्र के साथ उसकी कथा बताना तथा चित्र को समझने जितनी वांछित कथा बताना—ये दो अलग-अलग बातें हैं ।

चित्र के बारे में बताने की जरूरत पड़े तो फकत यही बताएँ कि वह क्या है । उसके गुण-दोषों के बारे में कुछ न कहें । 'यह सुंदर है', 'यह खूबसूरत है', 'कलाकार की कलम कैसी कमाल की है' अथवा 'यह बेढंगा चित्र है', 'इसमें रंग खिले नहीं' आदि-आदि अच्छी-बुरी प्रतिक्रियाओं से हमें बालक को बचाना चाहिए । बालक को चित्र सौंपने के बाद हमें यह देखना है कि उनको क्या कुछ पसंद आता है, कैसे रंग अच्छे लगते हैं, कौनसा कलाकार पसंद आता है । हमें यह जानकर ताज्जुब होगा कि बालकों की रुचियों और हमारी रुचियों में कितना विचित्र भेद है । हमारी रुचियाँ किस कदर रूढ़ि से बंध गई हैं अतः सही नहीं है, जबकि उनकी रुचियाँ स्वतंत्र होने के कारण कितनी शुद्ध और अविकृत हैं ।

भले ही हम भी उनके साथ चित्र देखें, पर वे हमारे बिना चित्र न देखें, ऐसी बुरी आदत उनमें हर्गिज पैदा न हो, यह हमेशा ध्यान रखें। बच्चे स्वयं चित्र देखेंगे ही। लंबे समय तक देखेंगे। उनमें आनंद लेंगे। पर इसके लिए न समय-विभाग-चक्र की जरूरत है, न पाठ्यक्रम की या परिणाम की। सूर्य, चन्द्रमा तथा प्राकृतिक अवयवों को बच्चे देखते ही हैं और उनसे अपने प्राणों को तृप्त करते हैं। इसी तरह वे उन चित्रों के अवलोकन से कला का आस्वादन करेंगे अपनी सौंदर्य दृष्टि को विकसित करेंगे। करते ही रहेंगे। आप पूछेंगे कि कैसे? तो इसका उत्तर यही है कि उसे दूर बैठे-बैठे देखने के लिए आपको अपनी आँखों को संस्कारित करने की जरूरत है। अगर बालक किसी चित्र को नहीं देखता तो इसके लिए कोई आग्रह रखने की जरूरत नहीं है। बार-बार उस ओर बालक का ध्यान खींचेंगे तो उल्टे उसे ऊब-उकताहट होगी। ढेर सारे चित्र सामने रखने से अथवा मनुहार करने से बालक को अजीर्ण हो जाता है, अतः ऐसा न करें।

चित्रों को कैसे देखा जाए, यह बात उन्हें सबसे पहले भली-भाँति समझा दें। वे 'पहले हाथ धोएँ, पौंछ लें और तब इस प्रकार हाथ में लेकर देखें और वापिस रख दें।' यह सारी बात उन्हें विधिपूर्वक करके बताई जानी चाहिए। तब आप उन्हें कीमती से कीमती चित्र भी चाहें तो दे दें। यदि आप ये सारी बातें पहले नहीं बताएंगे तो बाद में आपको उन्हें डाँटना पड़ जाएगा कि 'देख चित्र को कैसा गंदा कर दिया? ऐसे करेगा तो आइंदा नहीं दूँगा।'—यह आचरण गलत है। बालक को चित्र देखने की विधि बतानी सबसे जरूरी है। डाँटने से बालक को विधि नहीं आती। विधि तो करके बताने से आती है।

आगे चलकर जिस प्रकार हम घर में बालकों को चित्र देखने का अवसर देते हैं, वैसे ही उन्हें घर से बाहर के चित्रों का लाभ देना चाहिए। हम उन्हें मित्रों के यहाँ ले जाएँ या फिर चित्र-संग्रहों अथवा आर्ट-गैलेरी में ले जाएँ और चित्रों के अवलोकन का अवसर दें।

ऐसा कुछ करेंगे तो हमें लगेगा कि बालक की कला-दृष्टि विकसित करने और सौंदर्य-बोध जाग्रत करने के लिए हमने कुछ किया है।

: 16 :

इस विषय को समापन-स्पर्श देने से पूर्व मैं बालकों के चित्रों के बारे में अनेक अध्येताओं के उद्‌गारों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना जरूरी समझता हूँ।

बालकों के चित्र कैसे हों, इसकी चर्चा यहाँ नहीं की गई है। इसका निर्णय करना तो उन लोगों का काम है जो यह बताते हों कि बालकों का पेट (पाचन-क्रिया) कैसे काम करना चाहिए, बालकों को किस उम्र में बोलना या चलना सिखाना चाहिए, बालकों के दाँत कब गिरने चाहिए आदि-आदि। हाँ, बालकों के चित्र कैसे हैं, वे कैसे-कैसे चित्र किस क्रम से बनाते हैं — यह अनुभव प्रस्तुत करने और उनके कारण ज्ञात करने का काम बालकों का अवलोकन करने वालों का तथा बाल-मनोवैज्ञानिकों का है। इस प्रकार का अध्ययन कतिपय यूरोपीय विद्वान मनोवैज्ञानिकों ने सूक्ष्मतापूर्वक किया है और अपने अध्ययन के परिणाम प्रकाशित किए हैं। ऐसे अध्येताओं में प्रो. सली का नाम अग्रणी है। उन्होंने तो बालकों के चित्रों पर एक पूरा प्रकरण लिखा है।

वर्तमान शिक्षा जगत् में चित्रकला को अधिक से अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है, इसीलिए अनेकानेक मनोवैज्ञानिक व अध्यापक बालकों के चित्र कैसे होते हैं —इस संबंध में अपने विचार प्रकट करने लगे हैं। कुछ अर्से पूर्व शिक्षा-मंडल के ग्यारहवें वार्षिक सम्मेलन में मिस मारगरेट ड्रमंड ने 'बालकों के चित्र' विषय पर अपना एक विचारणीय पत्र पढ़ा था। 'बालक का अध्ययन' नामक एक पुस्तक में अमेरिकी लेखक कर्क पैट्रिक ने बाल-चित्रों के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। 'मानसिक विकास का प्रथम सोपान' नामक पुस्तक में तो बारह महीने के एक बालक द्वारा बनाये गये चित्रों से लेकर तीन वर्ष की आयु तक के बालक के चित्रों के नमूने दिए गए हैं। इसके अलावा किंडरगार्टन पद्धति वाले अध्यापकों को भी इस संबंध में बताया गया है और डॉ. मोंटेसरी ने भी बहुत-बहुत लिखा है कि बालकों के चित्र कैसे होते हैं!

बालकों के चित्र कैसे होने चाहिए, इसके निर्णय का काम कुछ सत्ताधारियों को सौंप कर हमें यह पता लगाना चाहिए कि उनके द्वारा बनाए हुए चित्र कैसे हैं। जिस प्रकार हम यह बात अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर की मानकर चलते हैं कि बालकों के चित्र कैसे होने चाहिए, वैसे ही हमें कुछ और बातें भी अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर माननी चाहिए, जैसे यही कि जो बालक चित्र बनाना चाहें वे हमारे समय और हमारी अनुकूलता का ही ध्यान रखें अथवा हमारी रुचियों और हमारी पसंद-नापसंद को ध्यान रखकर ही चित्र बनायें। ऐसा आदेश अपने हाथ में रखने के इच्छुक हम नहीं हैं। हम ऐसे चित्रों का अभ्यास कराना नहीं

चाहते, जो हमारे द्वारा निर्धारित स्तर से निम्न हों, जिनमें हमारी रुचि-अरुचि का प्रतिबिम्ब अधिक हो और जो मन के आवेग से नहीं अपितु घर या शाला के नियमन से या सख्त नियम से या कोमल प्रेम से या उपहार अथवा लोभ से बनाये जाएँ। ऐसे चित्रों में चित्रकार की आत्मा की झलक नहीं होती, बल्कि उल्टे ऐसे चित्र मनुज आत्मा के विकृत स्वरूप को प्रकट करने वाले होते हैं।

'बालकों के चित्र कैसे होते हैं'—इस विषय की हमने एक मर्यादा निर्मित की है। पर यह तो निषेधात्मक मर्यादा हुई। हमें तो साथ की साथ रचनात्मक मर्यादा भी बाँधनी चाहिए। हमें उन चित्रों का अध्ययन करना चाहिए, जो बालक अपनी आंतरिक वृत्ति और अपनी अनुकूलता के समय में आत्म-संतोष के लिए बनाएँ। ऐसे चित्रों का मनोविज्ञान की दृष्टि से सच्चा महत्व है। क्योंकि ऐसे चित्रों के द्वारा ही हम चित्र बनाने के पीछे उनकी कैसी-कैसी वृत्तियाँ हैं, उन्हें जान सकेंगे। इनके अध्ययन द्वारा हम अपना शिक्षाशास्त्र रच सकेंगे। ऐसा अध्ययन ही वास्तविक एवं सार्थक अध्ययन कहलाता है। चित्र बनाने के पीछे बालकों की कैसी-कैसी वृत्ति रहती है। इस बारे में आइए, हम अलग-अलग लेखकों के विचारों को संक्षेप में जानें।

प्रो. सली तथा कतिपय अन्य लेखकों की मान्यता है कि बालक समाज की बाल्यावस्था का प्रतिनिधि होता है। सामाजिक विकास के काल में आदिम मनुष्य की जैसी मनोवृत्ति थी, ये लेखक मनुष्य के विकास क्रम में बालक की मनोवृत्ति को उसकी तुलना में देखना-परखना समीचीन समझते हैं। अर्थात् समाज के प्रारंभिक पुरुष में जो वृत्ति थी, वह बालक में होती है। आदिम मानव को चित्र बनाना पसंद था, बस इसीलिए बालक की भी यह स्वाभाविक वृत्ति है। इस बात के समर्थन में ये विद्वान अफ्रीका आदि पिछड़े देशों में रहने वाले जंगली लोगों का उदाहरण देते हैं कि बालकों के चित्र बिलकुल उनके जैसे हैं। जैसी त्रुटियाँ आज ये जंगली लोग अपने चित्रों में करते हैं, वैसी ही त्रुटियाँ बालकों के चित्रों में होती हैं। इस संबंध में प्रो. सली की पुस्तक का Young Draughtsman नामक अध्याय पढ़ा जाना चाहिए। उपर्युक्त मान्यता के कारण इस अध्याय में बताए गए चित्रों के जैसे चित्र बनाने की बालकों को पूरी छूट दी जाती है, यही नहीं, इस प्रकार के चित्रों के संग्रहों को लेकर मनोविज्ञानवेत्ता बाल-चित्रों की मीमांसा करते हैं। 'मानसिक विकास का प्रथम सोपान' नामक पुस्तक में चित्रकला पर जो तीस पृष्ठ दिए गए हैं,

वे ऐसे चित्रों की मीमांसा पर ही हैं। ऐसे चित्र बालकों के होते हुए भी क्या सचमुच बाल-चित्र कहे जा सकते हैं, यह एक प्रश्न है। जब बालकों की आँखें संस्कारित नहीं होतीं, जब उनके हाथ अस्थिर होते हैं, जब उनके रूप-रंग का अता-पता ही नहीं होता, जब वे बेढंगे चित्र बनाते हैं और उन्हीं को बाल-चित्र मानते हुए उन पर मनोविज्ञान के ग्रंथ लिखे जाते हैं तो क्या वह मनोविज्ञान त्रुटिपूर्ण नहीं होगा? ऐसे बाल-चित्रों के ढेर में से मनोविज्ञान के सिद्धांत निर्मित करने के प्रयत्नों को अनेक विचारक उपहास की नजरों से देखते हैं।

इस स्थिति को लेकर डॉ. मोंटेसरी एक स्थल पर लिखती हैं : 'वर्तमान मनोवैज्ञानिक बाल-चित्रों के नमूनों के बतौर जो दागों भरे जुगुप्सा पैदा करने वाले चित्र बताये जाते हैं, वस्तुतः वे बाल मन के सच्चे साक्षी नहीं हैं वरन् वे तो गलत ढंग से बने निरंकुश मन-मस्तिष्क के भयंकर प्रदर्शन मात्र हैं। वे चित्र यह बताते हैं कि बालक की आँखें असंस्कारित हैं, उसके हाथ अस्थिर हैं, सुस्त हैं, उनके मन में सुंदरता-असुंदरता, सही या गलत के बारे में कोई समझ नहीं है। वे चित्र आत्मा की सुंदरता बताने की बजाय आत्मा की कमियाँ बताते हैं। भयंकर विकृतियों से भरे वे चित्र इस बात का पुष्ट प्रमाण देते हैं कि असंस्कारित मनुष्य कैसा होता है। इन चित्रों को बालक के हाथ से बने स्वतंत्र आरेखण नहीं कह सकते। उनके हाथ से स्वतंत्र आरेखण तो तभी निर्मित हो सकते हैं कि जब बालक ने स्वतंत्र वातावरण में रहते हुए प्रकृति के सौंदर्य को अपनी संस्कारित इंद्रियों के माध्यम से अपने हृदय में यथेच्छ भरा हो और साथ ही उस सौंदर्य को फिर से बाहर निकालने के लिए यांत्रिक स्थूल साधनों पर नियंत्रण पाया हो।'

यहाँ हमारे मन में दुविधा जैसी स्थिति पैदा होनी स्वाभाविक है। एक तरफ से देखें तो प्रो. सली द्वारा प्रस्तुत किए गए चित्रों को बाल-चित्र मानना चाहिए तथा दूसरी तरफ से देखें तो डॉ. मोंटेसरी ने जो स्पष्टीकरण दिया है उसे ही बाल-चित्र का प्रमाण मानना होगा। पल भर के लिए यदि हम यह सोचें कि बच्चे चित्र क्यों बनाते हैं तो यह विवेचन गलत नहीं होगा। पर यह स्पष्टीकरण सर्वमान्य नहीं लगता वरन् यह तो एक तुलना की स्थिति है। अभी यहाँ यह प्रश्न तो पूछा जाना शेष है कि जंगली लोग ऐसे चित्र क्यों बनाते थे? बालकों को लेकर सभी विचारक एकमत हैं कि बालक अपने हृदय को, हृदयगत भावों को व्यक्त करने के लिए चित्र बनाता है। एक साधारण रेखा खींचने की क्रिया से लेकर कोई सम्पूर्ण

और अद्‌भुत कलाकृति बनाने तक की क्रिया में प्रतिक्षण बालक अपने हृदय, अपनी अंतरात्मा, अपने मंतव्य, अपने विचार तथा अपनी भावना को प्रकट करने का प्रयास करता है। अर्थात् चित्र बालकों के हृदयगत भावों को प्रकट करने की एक भाषा है। वे चित्रों का इसी काम के लिए उपयोग करते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि चित्रकला बालकों की एक भाषा है। जो बात वे भाषा के माध्यम से व्यक्त नहीं कर सकते, उसको हाथ के द्वारा व्यक्त करना चाहते हैं अथवा एकाधिक तरीकों से अपनी भावनाएँ व्यक्त करने का आनंद लेते हैं। यहाँ हम इस बात की चर्चा नहीं कर रहे हैं कि बालक जिसे हाथ के द्वारा अभिव्यक्ति दे रहा हो, उस अभिव्यक्ति के पीछे उसका कैसा मानस है?

यहाँ हमें यह विचार-विवेचन करना है कि बालक कैसे चित्र बनाते हैं। लेकिन इस बात को हाथ में लेने से पहले एक विचार स्पष्ट रूप से धारण करना जरूरी है। बालकों के जिन चित्रों पर हम विचार करें, वे चित्र उनके स्वतंत्र चित्र होने चाहिए। अनुकरण चित्र अथवा अभ्यास के बतौर करने को दिए गए चित्र हमारे अध्ययन के विषय नहीं होने चाहिए। स्वतंत्रता का कड़ा अर्थ लेंगे तब तो बालकों के द्वारा बनाए गए एक भी चित्र को उनके स्वतंत्र हस्तालेखन नहीं कह सकेंगे। हरेक चित्र पर वातावरण का कुछ न कुछ प्रभाव तो पड़ता ही है। लेकिन जब तक वातावरण चित्रकार की आत्मा को आच्छादित नहीं कर देता, तब तक चित्र की स्वतंत्रता एवं मौलिकता आहत नहीं होती। जब शिक्षक चित्र बनाना सिखाएगा तो उससे सृजन नष्ट होगा। जहाँ शिक्षक स्वयं चलकर इरादे के साथ बालक को मदद करता है वहाँ बालक की सृजन-शक्ति का नाश होता है। डॉ. सीजेक और डॉ. मोंटेसरी दोनों इसी विचारधारा के हैं। डॉ मोंटेसरी ने लिखा है : 'चित्रकला में क्रमिक अभ्यास जैसी कोई बात नहीं हो सकती। व्यक्ति की सच्ची कला-शिक्षक है उसकी आत्मा।'

डॉ मोंटेसरी शिक्षक से इस बात की सख्त अपेक्षा रखती आई है कि वह अपने व्यक्तित्व को पर्दे की ओट में रखे। 'दूर रहो' का सूत्रवाक्य अध्यापक की काया के लिए प्राणस्वरूप है। प्रो. सीजेक ने यही बात सुंदर शब्दों में व्यक्त करते हुए मूलभूत सत्य को प्रकाशित किया है। वे लिखते हैं : 'अध्यापक बालकों से जितना दूर रहे, उतना ही अच्छा है। शून्य बनकर रहना उसके लिए इष्ट है।'

बाल-चित्रों के संबंध में लिखने वाले विचारक-लेखक बालकों के द्वारा खींची गई रेखाओं को भी चित्र का नाम देते हुए सम्मानित करते हैं। उनमें से कुछेक विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि जिस प्रकार भाषा सीखने वाला बालक शुरू में तरह-तरह के स्वरों एवं व्यंजनों का उच्चारण करता है, ठीक उसी प्रकार आड़ी-टेढ़ी रेखाएँ खींचते हुए बालक अपनी चित्रकला की शुरुआत करता है। ये रेखाएँ चित्र नहीं हैं और कला तो हर्गिज नहीं है। इन रेखाओं के द्वारा बालक अपने हृदय को प्रकट नहीं करता, न किसी वस्तु अथवा घटना के स्वरूप को चित्रित करता। ये रेखाएँ हमारे द्वारा लिखी गई अथवा चित्रित की गई इबारत या कृति का अनुकरण मात्र है। यों भी कहा जा सकता है, कि अपने हाथ के स्नायुओं को व्यवस्थित करने तथा सहकारी क्रिया करने के लिए बालक रेखाएँ खींचता है। मोंटेसरी पद्धति में तो बालक की रेखाएँ खींचने की वृत्ति को लेखन तथा चित्रकला की पहली सीढ़ी के बतौर काम में लेने की सफल योजना बनाई गई है। कभी-कभी रेखाएँ खींचते-खींचते बालक के हाथ से कोई आकार, कोई वस्तु किसी प्राणी की आकृति से साम्य रखने वाली रेखाएँ खिंच जाती हैं और बालक उन्हें उस वस्तु या प्राणी के चित्र के रूप में दिखाकर बड़ी खुशी प्रकट करता है। रेखाओं में इस तरह से सूक्ष्म दुनिया में उतरने की शक्ति है, ऐसी कल्पना कदाचित बालक के मन में ऐसे आकस्मिक चित्रों से उद्‌भूत होती होगी। लेकिन नन्हा बालक जिन-जिन चीजों को जिस तरह देखता है उन्हें उसी तरह इन रेखाओं के द्वारा खींचकर दिखाने का प्रयत्न नहीं करता अपितु देखने में स्वयं को जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण लगता है, खुद देखी हुई सम्पूर्ण वस्तु की सूचना अथवा सार रूप जो प्रतीत होती है, बस उसी को वह अपनी रेखा के द्वारा व्यक्त करता है। कोई बिन्दु, कोई नुक्ता या रेखा, जिससे बालक को किसी वस्तु की आकृति उभरती महसूस होती है, वह उसकी नजर में चित्र हेतु पर्याप्त है। ऐसे में दो बंद लकीरें और एक बिन्दी बालक के लिए चिड़िया बन जाती है, दो-चार खड़ी रेखाएँ और कुछेक टेढ़ी रेखाएँ बालक के लिए घोड़ा बन जाती है, आदि-आदि। बहुत बार ऐसा भी होता है कि एक चित्र बनाने के बाद बालक उसी में कुछ बिन्दु और जोड़कर उस चित्र को नया नाम दे देता है, अथवा बालक उस चित्र का पहले वाला नाम भूल जाता है और उसे कोई दूसरा उपयुक्त नाम दे देता है। बालक ये चित्र कलाकृति के लिए नहीं बनाता, अपितु अपने

विचारों को व्यक्त करने के लिए बनाता है। अतएव ऐसे चित्रों को लेखक जानकारीपरक चित्र कहते हैं।

ऐसा भी लिखा गया है कि इस तरह के चित्र बनाते-बनाते बालकों को स्वयं यह पता चल जाता है कि उनके बनाए चित्र यथार्थ नहीं हैं। उन्हें लगता है कि जो वे व्यक्त करना चाहते हैं वह तो अपूर्ण और अस्पष्ट है। अपने बनाए चित्रों में और मूल वस्तु में उन्हें बहुत अंतर नजर आता है। ऐसी स्थिति में वे स्वयं प्रयत्न करते हैं कि सही चित्र कैसे बनें। इस प्रयत्न के साथ बालक अब तक भाषा के बतौर जो चित्रों का व्यवहार करता था, उसे बनाना बंद कर देता है। अर्थात् वह चित्र बनाना बंद कर देता है। ऐसे समय अध्यापक बालक को चित्रकला सिखाने का काम शुरू करता है और उसी क्षण से बालक के भीतर के चित्रकार की आत्मा उड़ जाती है—ऐसा कथन यूरोप के विद्वानों का है। उनकी मान्यता है कि ऐसे समय में चित्रकला सिखाने का मुश्किल काम दक्ष चित्रकारों को बड़ी सूझ-समझ से हाथ में लेना चाहिए। बालक जो संज्ञा-चित्र बनाते हैं, उस स्थिति से उन्हें उच्च स्तर पर ले जाकर कला के साधनों में सामान्य रीति से अवलोकन, हाथ पर नियंत्रण तथा आँखों का सहयोग आदि-आदि सिद्ध करने पर ध्यान देना चाहिए, ऐसा कहा जाता है। बालक संज्ञा-चित्रों के बजाय सम्पूर्ण चित्र शुरू से बना सकते हैं, ऐसा अनुमान प्रो. सली के वाक्यों में गर्भित है। उनके कथन का सार यह है कि बालक जिस तरह से देखता है, उसे सम्पूर्णतया व्यक्त करने जितना नियंत्रण उसकी आँख और हाथ में नहीं होता।

अमुक उम्र तक बालक को इच्छानुसार रेखाएँ खींचने देने के पश्चात् और तब एक लंबे समय तक संज्ञा-चित्रों में खेलने देने के पश्चात् सही चित्र बनाने की शक्ति प्रदान करने के लिए हाथ, आँख आदि के शिक्षण पर विचार किया जाए अथवा नहीं, इस बारे में कुछ भी कहे बिना हम इतना तो सोच ही सकते हैं कि जब बालक अपने मौलिक चित्र बनाने अथवा अपनी आत्मा को व्यक्त करने लगे—उससे पहले यदि किसी भी पद्धति से वह यह नियंत्रण प्राप्त कर सके तो उसे यह अवसर अवश्य देना चाहिए। ऐसी पद्धति का अवश्य अभिनंदन करना चाहिए। इसी कारण से मोंटेसरी पद्धति से काम करने वाले बालक संज्ञा-चित्र लगभग नहीं बनाते। जिस चीज का बाद में विकास तथा सहकार साधने का काम किया जाता है और जिसके अपूर्ण विकास के कारण बालक अपने अपूर्ण चित्रों में त्रुटियाँ

देखकर चित्र बनाना बंद कर देते हैं, यदि उसी का पहले विकास करना सम्भव हो सके तो बालक का चित्रकला में उत्साह बढ़ता जाएगा। यह स्वाभाविक है। जब बालकों को अपनी त्रुटि समझ में आ जाती है और जब उन्हें हाथ में नियंत्रण और आँखों में सजगता नजर नहीं आती, तो वे चित्र बनाना बंद कर देते हैं। फिर तो चित्रकला शिक्षक की जड़ता शुरू होने पर दिनों-दिन उनकी आत्मा की पंखुड़ियाँ नष्ट होने लगती है और अंत में इसी कारणवश चित्रकला मुश्किल विषय बन जाता है।

फिर भी लोग मानते हैं कि यदि बालक ऐसे संज्ञा-चित्र बनाते हैं तो उन्हें बनाने दें। उसमें कोई बाधा नहीं है। वे कहते हैं कि धीरे-धीरे बालकों को अपने आप पता लग जाएगा कि उनके चित्रों में क्या कमियाँ रह गई। उन कमियों को दूर करने के लिए यदि उस समय शिक्षक ध्यान देंगे तो बच्चों को सही मार्ग मिल जाएगा। इन चित्रों की विशेषता यह है कि इनके द्वारा बालक वस्तुओं-पदार्थों को उनके वास्तविक रूप में चित्रित नहीं करते, अपितु उन दृश्यमान पदार्थों-वस्तुओं के प्रति उनको जो विचार सूझते हैं, उन्हीं को वे व्यक्त करते हैं।

डॉ. मोंटेसरी ऐसे संज्ञा-चित्रों के विरुद्ध हों, ऐसा तो नहीं लगता। वे फ्रीहेंड ड्राइंग को तो मानती हैं। फ्रीहेंड ड्राइंग उसे कहा जाता है जो बिना किसी पैमाने या माप या औजारों की मदद लिए मात्र हाथ से या आँख की सहायता से चित्रित किए जाते हैं।

इस काम के लिए डॉ. मोंटेसरी बालक को सफेद कागज का टुकड़ा देकर अपनी इच्छानुसार चित्र बनाने के लिए कहती हैं। इन चित्रों के बारे में वे कहती हैं कि शुरू में बालकों के चित्र बेढंगे और अस्पष्ट होंगे। उस समय शिक्षकों को चाहिए कि वे बालकों से पूछ-पूछ कर उनके द्वारा चित्रों के बताये नाम लिख लेने चाहिए। अस्पष्ट चित्रों के नाम भी बालकों की कल्पना में होंगे ही। इन चित्रों को शिक्षकों को क्रमिक रूप से इकट्ठा करके रखना चाहिए। आहिस्ता-आहिस्ता बालकों के ये स्वतंत्र आरेखण अधिक स्पष्ट और समझ में आने जैसे होते जाएंगे। इन चित्रों से ही यह पता लगेगा कि बालकों का अपने आसपास के पदार्थों का अवलोकन कितना सही है। साथ ही उनके अवलोकन में दिनों-दिन कितनी सफाई व गहराई जाती जाएगी, यह भी पता लगेगा।

इन सबके बावजूद डॉ. मोंटेसरी बच्चों के इन चित्रों को उनके वास्तविक चित्र के रूप में मान्यता नहीं देती । वे कहती हैं कि संज्ञा-चित्र बच्चों के स्वाभाविक चित्र हैं, परंतु उन्हें वांछित दिशा नहीं मिल पाने के कारण वे ऐसे चित्र बनाते हैं । यदि उन्हें सही दिशा दिखा दी जाए तो वे ऐसे चित्र नहीं बनाएंगे । यही वजह है कि डॉ. मोंटेसरी इन चित्रों को आत्मा की अपूर्णता के कारण उत्पन्न हुई भयंकर विकृतियों के नाम से व्यक्त करती है ।

एक और तरह के चित्र भी बालक बनाते हैं, जिन्हें डाइग्रामेटिक चित्र कहते हैं । ये वे चित्र होते हैं, जो किसी डाइग्राम या यंत्र की मदद से बनाये जाते हैं, जैसे स्केल या कंपास आदि । कई बार स्थूल पदार्थों को चित्रित करने के लिए बालक इन औजारों को उपयोग ले जाते हैं । मोंटेसरी पद्धति में भौमितिक आकृतियों की मदद से बनाए जाने वाले ज्यॉमितीय आरेखणों को भी इन चित्रों की कोटि में शामिल किया जा सकता है । इन ज्यॉमितिक रेखाचित्रों के बारे में डॉ. मोंटेसरी ने काफी लिखा है । वे इन चित्रों को कलाकृति नहीं मानती, बल्कि कला के प्रदेश में जाने की स्वाभाविक तैयारी का माध्यम मानती है । उनकी यह मान्यता बालकों के अवलोकन से ही निर्मित हुई है ।

देखा गया है कि सभी बच्चे संज्ञा-चित्र अथवा यांत्रिक चित्र नहीं बनाते । वे चीजों को जिस तरह देखते है, उसी तरह चित्रों द्वारा उन्हें व्यक्त नहीं करते । ऐसे भी बच्चे होते हैं कि जो वस्तुओं को ठेठ बचपन से जैसे देखते हैं वैसे के वैसे चित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं । उनके चित्र न संज्ञा-चित्र होते, न यांत्रिक चित्र अपितु वे शुरू से ही पिक्चर होते हैं, ड्राइंग नहीं । उनके लिए चित्र विचारों को व्यक्त करने के साधन नहीं अपितु आत्मा की कला दर्शाने के साधन होते हैं । (दे आर नोट लेग्वेज, दे आर आर्ट) । ऐसे बालक बहुत कम होते हैं । मिस ड्रमंड की ऐसी मान्यता है । डॉ. मोंटेसरी अपने चित्र-शिक्षण की योजना स्वतंत्र हस्तारेखण की दिशा में ले जाकर आगे का कार्य कलाप्रिय आत्मा वाले बालकों को सौंप देती हैं । वे कहती हैं: एक बार पूर्व तैयारी हो जाने के बाद तो कुदरती प्रेरणा—कुदरती बख्शीस ही काम करती है । सारा आधार कुदरती बख्शीस पर ही रहता है । इन स्थूल साधनों के द्वारा बलवान हुआ बालक अपनी आत्मा को प्रखरता-पूर्वक प्रकट करने में समर्थ होता है ।'

शिक्षकों को चाहिए कि बालकों के चित्रों को बालकों का ही बना रहने दें । आजकल शिक्षण व्यवसाय में भी दंभ बढ़ने लगा है, बालकों के द्वारा बनाये गए चित्रों में शिक्षक परिवर्तन -परिवर्द्धन करते हैं और उन परिष्कृत चित्रों को बाल-चित्र कहते हैं । यह अनुचित और त्याज्य है । इस प्रकार बालकों के सही चित्र तो हमें मिलेंगे नहीं, परिणामतः बाल-चित्रों संबंधी प्रयोगसिद्ध भूमिका रचने में हम असफल होते हैं । बालक तो हमसे प्रत्यक्ष रूप से ऐसी-ऐसी बदमाशी और धोखाधड़ी की बातें ही सीखेंगे । शिक्षण में चलने वाली इस तरह की परंपरा को हमें समाप्त कर देना चाहिए । बालकों के चित्रों से बालकों का नाम रोशन हो और विद्यालय की महिमा बढ़े—इस लोभ से यदि शिक्षक धोखाधड़ी करता है तो यह बुरी बात है ।

बालकों के द्वारा बनाए गए चित्रों में से अच्छे-अच्छे चित्र निकाल कर महज उन्हीं का प्रदर्शन करना और यह बताना कि बच्चे ऐसे ही चित्र बनाते हैं - यह धोखा और ढोंग है । शिक्षकों को स्वयं इससे बचना चाहिए ।

प्रदर्शनी में रखे गए चित्रों पर बालकों के नाम लिखने से उनमें ईर्ष्या-द्वेष बढ़ते हैं । जिनके चित्र सम्मिलित नहीं किए जाते वे दुखी होते हैं, कमजोर पड़ते हैं और गुस्सा करना सीखते हैं । इसके विपरीत जिनके चित्र शामिल किए जाते हैं, वे अभिमान व रौब में फिरते हैं । इससे अच्छा तो यही है कि नाम लिखने के बजाय चित्रों पर चित्रकार की उम्र लिख दी जाए । प्रयोग की दृष्टि से चित्रों को संग्रहीत किया जा सकता है - संग्रहीत किया जाना चाहिए । प्रत्येक चित्र पर चित्रकार का नाम व तिथि लिखी जाए और उन चित्रों को व्यक्तिगत तौर पर एकत्रित किया जाए । इन व्यक्तिगत एकत्रित किए गए चित्रों को व्यक्तिवार बाँधकर रख देना चाहिए । इन बाँधे गए चित्रों में से अध्ययन करने योग्य चित्रों को अलग निकालकर उनका विशेष संग्रह तैयार करना चाहिए । उन पर शिक्षक को जो अपनी टिप्पणी लिखनी मुनासिब हो, लिखनी चाहिए जैसे बालक की प्रगति की दिशा और विषयगत गहराई का उल्लेख करना । प्रत्येक बालक द्वारा बनाए गए मासिक चित्रों की संख्या, चित्रों की विविधता की संख्या आदि कई आँकड़े लिख लेने चाहिए ।

प्राथमिक शाला में चित्रकला का विषय अवश्य रखा जाना चाहिए । जो लोग आज इस विषय को प्राथमिक कक्षाओं में सम्मिलित करेंगे वे भावी पीढ़ी में कलात्मकता के वृक्ष उगाने के बीजारोपण करने के यशभागी बनेंगे । ❑

प्राथमिक शाला में संगीत शिक्षण

: 1 :

प्राथमिक शालाओं के अभ्यासक्रम में अब भी लेखन, वाचन, गणित आदि के विषय तो मिल जाएंगे परंतु संगीत का विषय नहीं मिलेगा। यही बात माध्यमिक विद्यालयों और महाविद्यालयों में है अर्थात् संगीत को एक शिक्षण-विषय के रूप में अब भी हमारे विद्यालयों में स्वीकृति नहीं मिली है।

किंटरगार्टन शालाओं में वाद्ययंत्र भी है और उसके साथ गायन भी। वहाँ संगीत उस विषय के आधारभूत संस्कार डालने के लिए नहीं है, न ही वह विषय जीवन में अत्यंत महत्त्व का है, इस दृष्टि से रखा गया है। खेल खेलाने, पढ़ाई को कम बोझिल बनाने तथा बालकों के मनोरंजन के लिए उसे वहाँ रखा गया है।

बालिका विद्यालयों में रास गवाये जाते हैं। वहाँ भी रास-गायन संगीत-शिक्षण की दृष्टि तथा महत्त्व से समझाया और स्वीकारा हुआ नहीं। बालिकाओं को गीत गाना तथा खेलना आता ही है। बालिका-विद्यालयों में शिक्षण को बालिकाओं के लिए मनपसंद का तथा दर्शकों के लिए आकर्षक बनाने की दृष्टि से वहाँ के शिक्षण में रास एवं गीत आदि को स्थान मिल गया है और वह वैसा का वैसा चला आ रहा है, लेकिन रास में ताल व सुर के शिक्षण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता।

कुछेक बालिका विद्यालयों में सितार, दिलरुबा आदि को कुछेक वर्षों से स्थान मिला है। वहाँ भी वे विषय श्रीमंतों की कन्याओं को ऊँची पढ़ाई कराने, वहाँ ऊँची कक्षाएँ कहीं खाली पड़ी न रह जाएँ तथा माता-पिताओं के लिए विशेष आकर्षण बना रहे, इसीलिए शामिल किए जाते हैं। सभी बालिकाओं के लिए ये विषय उपलब्ध नहीं हैं। श्रीमंतों अथवा उच्च जाति की कन्याओं को ही उसका लाभ मिलता है। गायन के साथ तो उसकी संगति नहीं दिखती।

कविताएँ गाने की बात लगभग सभी विद्यालयों में स्वीकृत है। वहाँ अच्छे ढंग से कविताएँ गाने का नियम है। वे लोग बालकों को सामूहिक रूप से गवाते हैं

और सुंदरता दिखाते हैं। परीक्षा के समय राग से गाये जाने पर बालकों को अंक भी दिए जाते हैं, पर शिक्षण के प्रबंध के नाम पर कुछ भी नहीं किया जाता। जो शिक्षक अच्छे कंठ से गा सकता है और जिसे यह कला आती है, वही संगीत का शिक्षक कहा जाता है। कविता के शिक्षण में राग के शिक्षण को महत्त्व नहीं दिया जाता। कविता के साथ गायन जुड़ा हुआ है अतः उसकी अनिवार्यता है, बस इतना ही। जो विद्यार्थी कविता ठीक बोल सकते हैं, उन्हें गाना आता है और जो नहीं बोल सकते, उन्हें नहीं आता - बस इतना ही, लेकिन सुरीलेपन या बेसुरेपन, तालबद्ध या बेताले आदि पर विचार नहीं किया जाता। कहने का आशय यही है कि आज कविता के गायन में संगीत-शिक्षण को कोई स्थान नहीं।

जलसे के समय शाला में संगीत का प्रदर्शन किया जाता है। कोमल, मधुर रागवाले बालकों को विशेष रूप से चुना जाता है। उन्हें कई-कई दिनों तक शिक्षण देकर रटाया घुटाया जाता है ताकि वे अच्छा गा सकें। इसके बावजूद ऐन वक्त पर वे कई बार टें बोल जाते हैं। इस प्रकार जब शाला में संगीत को कभी-कभार सम्मिलित किया जाता है तो वह अपमानित होता है, यही नहीं, उसकी हँसी होती है।

शिक्षण के नए युग में कुछेक वर्षों से निजी विद्यालयों, महाविद्यालयों, बालिका विद्यालयों से ऐसी आवाजें आती रहती हैं कि संगीत को विद्यालयों में स्थान दिया जाना चाहिए। उनके संचालक यथासंभव संगीतशास्त्री रखते हैं। वे लोग जैसा-तैसा संगीत का अभ्यासक्रम बना कर जैसा-तैसा संगीत-शिक्षण चला रहे हैं। उनसे कुछ शालाएँ राष्ट्र भावना से, कुछ कलादृष्टि से तो कुछ शिक्षण की दृष्टि से - यों भिन्न-भिन्न दृष्टि से संगीत को आदर दे रही हैं। इन शालाओं का संगीत का क्रम तथा शिक्षण पद्धति को अभी परिपक्व होना शेष है, जो धीमे-धीमे होगा।

बाल मंदिरों और मोंटेसरी शालाओं में संगीत एवं चित्र सबसे मुख्य हैं और बालमंदिर इनके बिना बालमंदिर नहीं कहा जा सकता, यह स्पष्ट बात है। इसी से जैसा-तैसा थोड़ा-बहुत संगीत वहाँ देखने में आता है और आना भी चाहिए।

परंतु ऊपर लिखे अनुसार जहाँ-जहाँ शिक्षण में संगीत है, उन-उन व्यक्ति-संस्थाओं को बाद-बाकी कर दें तो हमारे देश की शेष तमाम राज्यों की

राजकीय शालाओं में संगीत का शिक्षण में स्थान नहीं हैं। यह हकीकत है। इससे बड़ी और क्या बात होगी ?

आइए, जरा यह देखें कि शालाओं में संगीत का स्थान किसलिए है।

अनेक वर्षों से संगीत की शिक्षा उस्तादों और गवैयों के यहीं दी जाती रही है। प्रत्येक उस्ताद अपने-आप में संगीत-शाला ही है। जिसको संगीत का विशेष अध्ययन करना हो, वही उस्ताद के यहाँ जाता है, सीखने में वर्षों के वर्ष बिताता है, उनकी सेवा शुश्रूषा करता है और संगीत की उपासना करता है, तभी वह संगीत का ज्ञाता बन पाता है। संगीत-शिक्षण में यह प्रथा बड़ी मजबूत एवं विशाल है। इसी वजह से संगीत का शिक्षण एक अलग एक खास तरह के लोगों का विषय बन गया प्रतीत होता है, इसी से यह विषय कदाचित शालाओं की परिधि से बाहर रहा होगा।

दूसरा कारण यह लगता है कि संगीत का विषय आज लोकमान्य तथा लोक प्रतिष्ठित नहीं है। गवैयों का वर्ग उच्च जाति का नहीं रहा - बस तभी से उनके साथ संगीत की प्रतिष्ठा भी घटी और संगीत सीखने वालों को लोगों ने मौजी, लहरी आदि कुछ हल्का समझ लिया। संगीत वही सीखते हैं, जिनको अन्य काम-धन्धा हाथ नहीं आता अथवा जो लोग गवैयों का ही काम करते हों। संगीत का आनंद भले ही राजा और श्रीमंत लें, पर गायक को तो नीचा स्थान-मान ही दिया जाता है। कला का आस्वादन किए जाने के बावजूद उसकी गणना विलास वृद्धि के साधन के रूप में ही गिनी जाती है। इस प्रकार संगीत आमोद-प्रमोद तथा जलसों-प्रदर्शनों का विषय बन जाने से उसे विद्यालयों में वांछित स्थान नहीं मिल पाया।

एक और कारण भी है कि हमारी वर्तमान शालाओं की शिक्षण मर्यादा नितांत सीमित और छोटी है। विद्यालय अर्थात् जो लेखन, वाचन अथवा गणित विषय सिखाए। विद्यालय अर्थात् जो व्यवहार के साधन प्रदान करे। लेखन, वाचन, गणित तो सबको चाहिए ही चाहिए। इनके बगैर आदमी का काम नहीं चल पाता। इनके बिना आगे की पढ़ाई नहीं की जा सकती। लेकिन संगीत व्यवहार का विषय नहीं है। इसके बिना व्यक्ति समाज में तथा जीवन में अपना व्यवहार चला सकता है। अनपढ़ व्यक्ति निकम्मा है, पर न गाने वाले या संगीत न समझने वाले को

निकम्मा कोई नहीं कहेगा। और पढ़ा-लिखा वह है जो वाचन कर सके, लिख सके, हिसाब कर सके। ऐसे में व्यापारिक नजरिये से चलने वाली शालाओं में से संगीत बाहर रह गया हो तो यह स्वाभाविक ही है।

मान लें कि विद्यालयों के शिक्षण-प्रबंध में व्यवहार दृष्टि नहीं है, तब भी लोग तो यही कहेंगे कि उनमें मुख्यतः शैक्षिक दृष्टि है। यदि आज के शिक्षण-विषयों को देखें तो स्पष्ट होगा कि जो दृष्टि वहाँ व्याप्त है वह मात्र बुद्धि का शिक्षण करने वाली है। गणित, इतिहास, भूगोल, वाचन, लेखन आदि सब विषय ज्ञान देने के साथ-साथ मोटे तौर पर बुद्धि का शिक्षण करने वाले हैं। जब ज्ञान-सम्पत्ति का मूल्य बहुत अधिक लगाया जाएगा तो यह बात समझ में आने वाली है कि विद्यालयों में सिर्फ बुद्धि का शिक्षण देने का ही प्रबंध किया जाएगा। ऐसे में संगीत बाहर ही रहेगा। शिक्षा-संचालकों के सामने यदि शिक्षा की यह व्यापक समझ नहीं होगी कि शिक्षा अर्थात् शारीरिक, मानसिक एवं अंतःकरण का विकास, तो हृदय की शिक्षा के साधन स्वरूप संगीत एवं चित्र आदि विषय विद्यालयों की परिधि से बाहर ही रखे जाएंगे।

हमारे काठियावाड़ गुजरात में अन्य देशों -विभागों के मुकाबले एक प्रकार से संगीत का प्रचार कम है। महाराष्ट्र या बंगाल के घर-घर में संगीत का जैसा संस्कार है वैसा यहाँ नहीं है। महाराष्ट्र-बंगाल में इस विषय को जो प्रतिष्ठा है वह भी यहाँ नहीं है। अतः घर में ही जिसे स्थान या मान नहीं है उसे शाला में न मिले तो यह अस्वाभाविक नहीं है। यहाँ का लोकसंगीत विशाल और विविध है। घर-घर में व्याप्त है। एक तरह से यह सब की रग-रग में पीढ़ी दर पीढ़ी उतरता चला आ रहा है। बचपन से ही इसके संस्कार हम पर पड़ते आए हैं और इसकी तरफ हमारे मन में अभिरुचि व मान दोनों हैं। परन्तु ऐसे लोक संगीत की कदर सरकारी-दरबारी शालाओं के संस्थापकों ने नहीं समझी। उन्हें यह लगा नहीं कि इसे शालाओं के शिक्षाक्रम में रखा जाना चाहिए। शायद इसका कारण यह रहा है कि यह तो स्वतः सीखा जा रहा है, इसे सिखाये जाने की आवश्यकता ही क्या है। ऐसे में दोनों प्रकार का संगीत हमारी शालाओं में नहीं है। लोक-गीतों का जो शिक्षण सहज रूप से घर-घर में होता आया रहा था, आज वह धीमे-धीमे घटने लगा है। उसका परिणाम शालाओं में भी देखने को मिल रहा है कि वहाँ भी उसका अभाव हो रहा है।

यह तो इस बात की चर्चा हुई कि अब तक शालाओं में संगीत को सम्मिलित नहीं किया जा सका । अब हमें यही प्रयास करने हैं ताकि इसे शालाओं में प्रविष्ट किया जा सके ।

हमें शाला के अभ्यासक्रम में संगीत को जोड़ना है, प्रमुख स्थान पर रखना है । यह तभी संभव है जब इसके शिक्षण का मूल्य भली-भाँति स्वीकार किया जाए । अगर हमें यह लगता है कि संगीत की शिक्षा का प्रबंध किया ही नहीं जा सकता, तो यह मान कर चलें कि शिक्षण में बहुत पीछे और अधूरे रह जाएंगे ।

गुजरात में गवैये अथवा अच्छे संगीतज्ञ कम हैं । संगीत की तरफ लोगों की रुचि जागृत हो, हम व्यापार के साथ कला का आनंद भी लें—महज इसीलिए शाला में संगीत शुरू करने की जरूरत नहीं । यह तो हमारी व्यापारी नीति का विचार है । संगीत-शिक्षण के परिणामस्वरूप संगीत का धंधा पनपे और इस धंधे से लोगों की आर्थिक मुसीबतों का घटाने में मदद मिले—यह उद्देश्य भी उतना ही ओछा है । संगीत के काम को मकान बनाने वाले बेलदार के काम जैसा कोई मानने की हिम्मत करे तभी वह कमाई बढ़ाने में सहयोगी बनेगा, अतः उसका शिक्षण जरूरी है, यह विचार भी गलत है । संगीत जानने से और विशेष रूप से बालिकाओं द्वारा जानने से उन्हें आनंद करने का एक साधन मिलेगा, घरों में स्त्रियाँ गाएंगी और पुरुष झूमेंगे तो गृहजीवन विकसित होगा, संगीत सम्मेलन आयोजित होंगे अतः एक सुखद व्यवसाय मिलेगा—ऐसा एक सुखोपयोगी उद्देश्य भी संगीत जैसे उच्च विषय-शिक्षण के लिए शर्मिंदगी की बात है । यदि कोई कहे कि शिक्षण में एकाध शोभाप्रद अथवा उदात्त विषय के रूप में संगीत को शामिल किया जाए अथवा आजकल संगीत का जमाना है अतः इसे शामिल किया जाए, तो यह भी मुनासिब नहीं लगता ।

सर्जनात्मक वृत्ति मनुष्य में विद्यमान रहने वाली एक सहज वृत्ति है । यह सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर की तथा मनुष्य की सर्जनात्मक वृत्ति का परिणाम है । शारीरिक, मानसिक तथा हार्दिक —तीनों क्षेत्रों में मनुष्य सृजन किए जा रहा है । हमारे आसपास की सौंदर्यपूर्ण सम्पूर्ण स्थूल कृति मनुष्य के अंतरतम में विद्यमान शारीरिक सर्जनात्मक वेग का ही फल है; बौद्धिक सर्जनात्मक वृत्ति का परिणाम है हमारी तत्त्वमीमांसाएँ, ज्ञानसंग्रहालय तथा आश्चर्यजनक आविष्कार; इसी तरह

मनुष्य की हार्दिक सर्जनात्मक वृत्ति का वेग बहने के साथ ही उसमें से संगीत आदि हृदयस्पर्शी कलाओं का जन्म हुआ ।

शिक्षा अर्थात् मनुष्य की उपर्युक्त त्रिविध सर्जनात्मक वृत्तियों को सम्पूर्णतया विकसित करने योग्य वातावरण, अनुकूलता तथा मदद देना । यह मदद मिलते ही मनुष्य अपने भीतर से वास्तविक स्वरूप में बाहर आएगा, वह स्वयं को जानेगा, अपने मूल स्वरूप को वह उत्तरोत्तर आगे बढ़ाएगा और उसे पूर्णता तक पहुँचाने का प्रयत्न करेगा ।

प्रत्येक मनुष्य की सर्जनात्मक वृत्ति का आविर्भाव एक ही रीति से नहीं होता । मनुष्य के विकास की उच्च कक्षा के कारण अथवा रुचि की वजह से सर्जनात्मक वृत्ति अलग-अलग मनुष्यों में अलग-अलग रूप से बाहर आती है । एक व्यक्ति रूप-रंग द्वारा प्रधानतः अपने अंतर स्वरूप को बाहर लाएगा तो समर्थ चित्रकार कहलाएगा, जब दूसरा ध्वनि के मधुर संवाद द्वारा स्वयं को प्रकट करेगा तो उसे संगीत का नाम मिलेगा, तीसरा क्रियाशक्ति का अद्‌भुत आविर्भाव करके कर्मयोगी का नाम कमाएगा, तो चौथा सेवा करके अपना प्रेमस्वरूप प्रकट करेगा ।

अतएव संगीत भी कलात्मक सर्जन है, प्रकृति का आविर्भाव है । यदि शारीरिक एवं बौद्धिक सर्जनों के उन्नयन के लिए शिक्षा का प्रबंध मान्य है तो शिक्षा में हार्दिक सर्जन को भी स्थान मिलना चाहिए— यही नहीं, उसका स्थान श्रेष्ठ होना चाहिए क्योंकि शरीर, मन तथा हृदय में हृदय के विकास की महत्ता विशेष है ।

इसीलिए प्राथमिक शाला में हृदय की शिक्षा देने वाले अनेक विषयों में से दो-एक को स्थान दिया जाना चाहिए और उनमें संगीत तथा चित्रकला को प्रथम स्थान देना चाहिए ।

संगीत का शिक्षण प्राथमिक शाला से तो शुरू होना ही चाहिए । बाल-विद्यालय में यदि संगीत न हो तो उसे बाल-विद्यालय कहना ही गलत है । आज की स्थिति विपरीत है । जहाँ थोड़ा-बहुत संगीत है, वहाँ भी वह उच्च शिक्षण-संस्थाओं में है । कॉलेज अथवा माध्यमिक शालाओं तक हृदय की शिक्षा देने वाले साधन को शामिल करना स्थगित नहीं रखा जा सकता । जिन बालकों को संगीत की जरूरत है उन्हें कॉलेज में न पहुँचने तक उससे वंचित नहीं रखा जा सकता । संगीत भी मिले तो इतना विलंब से, तभी तो संगीत के प्रेमियों को, संगीत के द्वारा

प्रगति करने वालों को अपनी प्रगति में अटकना पड़ता है। वे जो सीखना चाहते हैं, उसे सीखने की उन्हें अनुकूलता नहीं मिल पाती, और जो चीज उनके विकास में पूरक नहीं होती, उसे उन्हें जबरन लेना पड़ता है। ऐसे में उनकी स्थिति बड़ी भयंकर हो जाती है। वे वांछित शिक्षण से विमुख ही रहते हैं। उन्हें अपना मार्ग हाथ नहीं आता, अतः दूसरों के मार्ग में वृथा भटकना पड़ता है। एक तरह से वे असंतुष्ट, अतृप्त और जीवन में निष्फल नजर आते हैं।

जिस प्रकार संगीत में अपना वांछित क्षेत्र हाथ न लगने से संगीत का जीव मार्ग भूलकर भटक जाता है वैसे ही जिन-जिन लोगों को रुचि का वांछित क्षेत्र हाथ न लगने से उनकी दशा भी वैसी ही हो जाती है। बड़े होने पर यदि सौभाग्यवश किन्हीं की पढ़ाई जारी रही और उच्च कक्षा में जाने पर उन्हें अपना रुचि का विषय मिला, उनके भी समय और शक्ति का तो अपव्यय मानना ही चाहिए और उसकी भरपाई कैसे हो सकती है। अगर विकास के लिए वांछित सामग्री की आवश्यकता ही है, और वह देनी ही है तो पहले से ही उपलब्ध क्यों न कराई जाय?

क्यों तो बीज को इतना विलंब से बोया जाए और क्यों उससे हल्की फसल प्राप्त की जाए? अथवा जीवन की इतनी अवधि अन्य प्रवृत्ति में क्यों बरबाद की जाए?

प्राथमिक विद्यालय में संगीत विषय शामिल करने का अर्थ यह नहीं है कि उसे अनिवार्य विषय की तरह लागू किया जाए। कई लोग ऐसा मानते हैं कि संगीत से विमुख शायद ही कोई होता होगा, फिर भी सब की एक समान ऊँची रुचि नहीं हो सकती। कुछ की प्रवृत्ति संगीत के रसास्वादन तक सीमित होती है, कुछ गायन-प्रिय होते हैं, कुछ श्रवण प्रिय, तो कोई तालरसिक। ऐसे में संगीत विषय में विविधता है, सबको गायन-वादन सीखना चाहिए, इससे सर्जनात्मक वृत्ति को विकसित करने का मार्ग प्रशस्त होगा आदि तर्क देना सही नहीं होगा। संगीत विषय सबके लिए ऐच्छिक ही रहना चाहिए। परन्तु संगीत के परिचय का वातावरण ऐसा उत्तम और प्रेरक रहे कि जिस किसी में इसकी शक्ति का बीजारोपण हो जाए, वह पल्लवित-पुष्पित हुए बिना न रहे। यदि ऐसे वातावरण में वह प्रकट नहीं होता तो उसके लिए अन्य प्रकार का वातावरण तो उपलब्ध है ही, और अन्य क्षेत्र में वह प्रस्फुटित होगा ही होगा।

संगीत को शुरू से ही शिक्षण-क्रम में सम्मिलित कर दें तो उसका शिक्षण कैसा हो, इस संबंध में हमारे विचार स्पष्ट होने चाहिए। लेकिन इससे पहले यह जान लेना भी जरूरी है कि संगीत विषय का प्रदेश कितना व्यापक है।

लोक-संगीत और शिष्ट-संगीत—दोनों प्रकार के संगीत को विद्यालयों में एक-सरीखा स्थान है। लोकसंगीत शिष्टसंगीत के मुकाबले ताल, कंठ एवं राग में आसान होता है, उसकी विषय-वस्तु सुपरिचित होती है, समझने में आसान होता है अतः उसका प्रथम स्थान है। बालकों के सम्मुख हमें संगीत के शिक्षण के रूप में ही गीत रखने चाहिए। उनमें भी पहले सादे, बालमन को पसंद आने वाले, सरल लय वाले गीत रखने चाहिए और उनके गायन की शैली लोक-शैली ही रखनी चाहिए। अनेक लोकगीत राग-रागिणियों में गाये जा सकते हैं, उनमें तान-अलाप लिये जा सकते हैं। पर ऐसी शैली छोटे बालकों को अच्छी नहीं लगती, उल्टे वह उनमें ऊब-उकताहट पैदा करने लगती है। अतः सादे गीत एवं शैली की सादगी ही पसंद की जानी चाहिए।

कुछ लोग लोक-संगीत को संगीत नहीं मानते। उनके मत से संगीत-शिक्षण का अर्थ है शिष्ट-संगीत का शिक्षण। ऐसा वहम सौभाग्यवश काफी-कुछ तो समाप्त हो चुका है। थोड़ा बहुत है तो है। यह बात स्वीकारना गलत है कि लोक संगीत को अभी संगीत की पूरी प्रतिष्ठा नहीं मिली। वस्तुतः लोकसंगीत शिष्टसंगीत की जननी है। प्राथमिक संगीत अर्थात् लोकगीत का संगीत; और प्राथमिक स्थिति के बालकों के लिए यही संगीत है, अतः इसे पूरे सम्मान से स्वीकार करें। अर्थात् इसके गायन के समय की गंभीरता, इसके स्तर की प्रतिष्ठा, इसके आयोजन के प्रति आदर, इसके ज्ञान के प्रति लगाव एवं प्रीति आदि हम में होने चाहिए और यह बात शालाओं के वातावरण से प्रतिबिम्बित होनी चाहिए। 'ठीक है, हैं एक जाति के गीत'—ऐसा कहते हुए लोकगीत गाकर उनका अपमान करना हो तो उन्हें न लें, और उसके बगैर जो नुकसान अभी तक अनेक लोगों ने सहन किया है, उसे झेलें। इसके ठीक विपरीत लोकगीत की प्रतिष्ठा सातवें आसमान पर चढ़ा दें, ऐसा भी नहीं होना चाहिए। संगीत के शिक्षण में मात्र लोकगीतों को ही शामिल करके इतिश्री मान लें तो यह गलत है। ऐसा करेंगे तो संगीत की प्रगति का परिचय नहीं दिया जा सकेगा और उसका वातावरण अधूरा रहेगा। कहने का आशय यह है कि

संगीत-शिक्षण में लोक एवं शिष्ट दोनों प्रकार के संगीत को आदर एवं स्थान प्रदान करें।

संगीत विषय में आम तौर पर लोगों का आदर भाव बढ़ता जा रहा है। पं. विष्णु दिगंबर और उनकी कोटि के संगीतज्ञों ने संगीत की शुद्ध व सात्विक उपासना करके इसकी प्रतिष्ठा बढ़ाई है। उन्होंने पर्याप्त शिष्य तैयार करके अच्छे संगीत शिक्षक तैयार किए हैं। इसके बावजूद जब हम समस्त प्राथमिक शालाओं में संगीत विषय सम्मिलित करने का सवाल उठाते हैं तो यह सवाल भी उठेगा कि बालकों को संगीत सिखाएगा कौन? उस्तादों के पास तो बालकों को ले जाकर संगीत सिखाया नहीं जा सकता। उन्हें शालाओं में लाना भी अनुकूल नहीं होगा। निश्चय ही वे संगीत के ज्ञाता हैं, कलाकार हैं, और भी हैं, पर बड़ी उम्र के विद्यार्थियों के। वे सिखाना भी जानते हैं, पर उनकी शिक्षण पद्धति प्राथमिक शालाओं में चलने वाली नहीं। वे मात्र व्याकरण-पद्धति से ही संगीत सिखा सकते हैं। पुराने जमाने में जिस प्रकार रटंत विद्या पर ही शिक्षण की सफलता आधारित रहती थी, वैसे ही इन लोगों के पास केवल जड़ श्रम पर ही सफलता का बड़ा आधार है। उनका शास्त्र 'करो, फिर करो, ऐसा करो, क्यों नहीं आ सका, गाफिल हो, मेहनत करो' बस इतना ही है। वे स्वभाव से संगीत प्रेमी हैं, पर उससे भी बढ़कर संगीत के धुनी अथवा संगीत के मस्ताने हैं। वे शिक्षक नहीं हैं, अतः शिक्षण उनका प्रेम का विषय नहीं। लहर हो तो वे दो बातें बता दें, नहीं तो बारह बरसों तक भटकाते रहेंगे। कहा जाता है कि किस्मत से ही अपने विद्यार्थियों को कला का आतंरिक मर्म बताते हैं। गुरु के रूप में वे लोभी होते हैं। हालाँकि ऐसे गुरुओं की संख्या ज्यादा नहीं हैं, फिर भी यदि मिल जाएँ तो वे बेकार हैं। पं: विष्णु दिगंबर की संस्था के प्रशिक्षित लोग संगीत के बड़े-बड़े उस्तादों की बजाय कहीं ज्यादा योग्य शिक्षक हैं। उन लोगों में उस्तादों जैसी तुनक-मिजाजी और खां-साहबी नहीं। उनमें न्यूनाधिक रूप में एक प्रकार की खानदानी परंपरा है जो कला प्रेमी या कलाकार को ही शोभा देती है। वे प्राथमिक शाला के सच्चे संगीत शिक्षक हो सकते हैं। पर उन लोगों में भी एक बड़ा वर्ग ऐसा है जो मात्र संगीत जानता है। उसे बालमानस और शिक्षण-शास्त्र का ज्ञान नहीं। ऐसे लोगों के हाथों में शिक्षण का काम सौंपना जोखिम भरा है।

अतः या तो प्रत्येक शिक्षक को थोड़ा बहुत संगीत जान लेना चाहिए, या फिर ऐसे उत्तम संगीतज्ञों को शिक्षाशास्त्र का थोड़ा-बहुत अध्ययन कर लेना

चाहिए। आसान रास्ता कौनसा है, यह बात अनुभव से जानी जा सकती है। यहाँ हमें इस बात को स्वीकार कर लेना चाहिए कि अच्छे संगीत-शिक्षक को शिक्षा-शास्त्र की थोड़ी बहुत जानकारी होनी चाहिए। शिक्षकों को भी और कुछ नहीं तो संगीत समझने जितनी शक्ति विकसित करनी चाहिए।

परन्तु जब तक हमारे पास सभी प्राथमिक शालाओं के लिए पर्याप्त मात्रा में संगीत-शिक्षक नहीं होंगे तब तक इन शालाओं में रखा जाने वाला संगीत विषय कागज पर ही रहेगा। हमने इतिहास, भूगोल के शिक्षण की जरूरत स्वीकार की, ड्राइंग तथा गणित का शिक्षण भी अनिवार्य माना—इसी हिसाब से अपने ट्रेनिंग कॉलेजों में हमने शिक्षण का प्रबंध किया, इनके लिए खास शिक्षक रखे और भावी शिक्षकों को इन विषयों का प्रशिक्षण दिया। इसी भाँति यदि हम संगीत शिक्षण को प्रत्येक शाला में दाखिल करना चाहें तो इस विषय को ट्रेनिंग कॉलेजों में पढ़ाने की व्यवस्था की जानी चाहिए। परन्तु इतना तो मानकर चलना चाहिए कि सारे शिक्षक संगीत में रुचि लेने वाले नहीं होंगे, अतः अनेक शिक्षक उस विषय में कुछ नहीं सीखेंगे। लेकिन यह बात तो ड्राइंग और भाषा आदि पर भी लागू होती है—अतः काम चलाने जितना भी वे सीखें तो काफी है। संगीत में विशेष रुचि या ज्ञान न भी होगा तो विषय-परिचय तथा काम चलाऊ ज्ञान तो दिया ही जा सकेगा।

संगीत विषय में अच्छे निष्णात व्यक्तियों का शिक्षक वर्ग बनाना भी उत्तम बात है। पर उनके लिए तो संगीतशास्त्रियों का अलग से अध्यापन मंदिर स्थापित करना होगा। यह मुश्किल बात है। पर यदि संगीत शिक्षक को संगीत पढ़ाने वाले की प्रतिष्ठा तथा मूल्यवत्ता से कहीं अधिक हम उन्हें दे सकें तो वे अध्यापन मंदिर को स्वीकारेंगे और तब तो संगीत विषय अच्छी तरह से पढ़ाया जा सकेगा।

लेकिन यह सब व्यवस्था होने तक बैठा नहीं रहा जा सकता। इस विषय को प्राथमिक शालाओं में प्रविष्ट किया जाना चाहिए। यदि संगीत-शास्त्री मिल जाए तो ठीक, अन्यथा सामान्य शिक्षक तो स्वयं जितना संभव हो सके, उतना लोक-संगीत शुरू करे। लोकगीत तो शुरू किए ही जा सकते हैं। बालिका विद्यालयों में तो कोई विशेष कठिनाई पेश नहीं पड़ेगी। ग्रामीण स्त्रियाँ और लोकगीत गाने वाले पुरुष हमारे विद्यालयों के लोकसंगीत विषय के शिक्षक ही हैं। उनको बार-बार शाला में बुलाकर उनके गीत सुनवाये जाएँ, रासगीत व रासनृत्य करवाए जाएँ।

आज इतना ही विधिवत हो जाएगा तो काफी है। परन्तु किसी आयोजन अथवा उत्सव के निमित्त ही यदि ऐसा किया जाएगा, जो बाद में भुला दिया जाए तो वहाँ हमें यह मानने की गलती नहीं करनी चाहिए कि हमने संगीत-शिक्षण का आयोजन किया था। यदि यह गलती नहीं है तो वंचना अवश्य है।

अंतिम बात यह है कि संगीत हम कैसे सिखाएंगे? विदेशों में तो संगीत शिक्षण को लेकर अनेक प्रयोग किये गये हैं। अलग-अलग लोगों ने अपनी कल्पना-प्रखरता से अलग-अलग विधियाँ ईजाद की हैं। वे सब एक-दूसरी से ब्यौरे में अलग हैं, फिर भी उनकी पृष्ठभूमि में एक सिद्धांत व्याप्त है। वह यह है कि अन्य शिक्षण की भाँति संगीत-शिक्षण भी नई दृष्टि और नई विधि से दिया जाना चाहिए। वहाँ पुरानी पद्धति का सख्त विरोध है। पुरानी पद्धति का अर्थ है व्याकरण पद्धति। अर्थात् जिस प्रकार भाषा में व्याकरण से शिक्षण शुरू किया जाए उसी प्रकार संगीत में भी सा रे ग म के मूलाक्षरों से संगीत सिखाया जाए। व्याकरण विषयों की देह है, कलेवर है, व्याकरण विषयों की निर्मिति का परिचय कराती है। परन्तु देह देही नहीं है, वैसे ही अलग-अलग विषयों का व्याकरण भाषा नहीं, खुद संगीत नहीं है या चित्रकला नहीं। चेतन का परिचय चेतन से होता है, देह से नहीं। भाषा का परिचय भाषा से और संगीत का परिचय संगीत से होता है। सा रे ग म आदि नोटेशंस संगीत के हाथ पैर हैं, संगीत नहीं। जैसे हाथ-पैर शरीर नहीं, शरीर के अंग हैं, अतः संगीत का शिक्षण उसके व्याकरण अर्थात् हाडपिंजर से नहीं अपितु उसकी भाषा से अर्थात् उसके चेतन से दिया जाना चाहिए।

हम सबका अनुभव भी यही बताता है। बच्चे गीतों को सुनेंगे। वे अकेले में या सामूहिक रूप से गाएंगे। सुनेंगे तो आनंद से और गायेंगे तो अक्सर स्वर में गायेंगे, ताल के साथ। जबकि वे सरगम के सात सुरों से अनजान होंगे—उनके अंतर को नहीं जानते होंगे—ठीक वैसे ही जैसे वे भाषा बोलते हैं पर भाषा की रचना के अंग नहीं जानते, वैसे ही। भाषा को सुनकर ग्रहण किया जाता है, वैसे ही संगीत का परिचय संगीत सुनने से हो सकता है। भाषा ज्ञान की शुरुआत भाषा के वातावरण में रह कर ही होती है, बोलकर ही होती है, वैसे ही संगीत शिक्षण की शुरुआत संगीत के वातावरण में रहने से ही होती है, उसमें अवगाहन करने पर ही संभव है, उसमें गाकर होती है।

व्याकरण पद्धति के विपरीत उक्त पद्धति को हम परिचय पद्धति कहेंगे। इस पद्धति का विस्तार भी है और इसकी मर्यादाएँ भी हैं। व्याकरण पद्धति के साथ इसका कैसा व कितना संबंध है, इसके निर्णय भी हैं। उसका और व्याकरण पद्धति का साथ-साथ उपयोग तथा समन्वय भी विचार में आ चुका है लेकिन यहाँ उसकी चर्चा संभव नहीं, अप्रासंगिक होगी, अतः उसे छोड़ दें। पर इतना तय कर लें कि प्राथमिक शाला में संगीत विषय परिचय-पद्धति से ही सिखाया जाए। उसका सामान्य तथा प्राथमिक स्वरूप कुछ ऐसा है, इसे जान लें।

प्राथमिक परिचय-पद्धति में संगीत का संगीत के द्वारा ही जीवन्त अनुभव किया जाता है। गायक-वादक स्वयं सुंदर ढंग से गाए-बजाए और बालक सुनें। गायन बालोचित हो—इस संबंध में कहा ही जा चुका है। गायन सुन-सुन कर बालकों को आनंद मिले। वे भी धीमे-धीमे गाने लग जाएँ। उनके समक्ष जो सुंदर आदर्श आएँ वे उसमें लवलीन हो जाएँ। वे आदर्श के जैसे बनने का सहज ही प्रयास करने लगें। उन्हें कोई कर्त्तव्य बोध न कराए, रोके नहीं, गलतियाँ न निकाले, परीक्षा न ले। उनके आगे उससे अगले क्रम का संगीत जिसे वे पसंद करें, प्रस्तुत किया जाए। उन्हें छूट हो कि वे अगले क्रम का गीत चुनें या न चुनें। जिसे वे चुनें उस पर नजर रखी जाए, चयन की कठिनाइयों को दूर किया जाए, गायक की त्रुटियों को सुधारा जाए और इस प्रकार करते-करते संगीत-प्रेमी बालकों को ढूँढ़ा जाए, साथ ही साथ संगीत की पद्धति में भी संशोधन किया जाए।

प्राथमिक विद्यालयों में अभी तो इतना संगीत ही पर्याप्त होगा। आज की प्राथमिक शालाएँ संगीत के बिना नितांत नीरस हैं। वे हृदय विहीन शालाएँ हैं। आने वाले कल की शालाएँ संगीत की सुमधुर स्वर लहरी से गुंजित हो जाएँ, प्रभु से हमारी यही कामना है।

: 2 :

बालमंदिर में हमेशा नए-नए प्रयोग होते ही रहते हैं। अन्य विषयों के प्रयोगों में संगीत का प्रयोग भी हुआ है। बालमंदिर का प्राथमिक विभाग विगत दस-बारह वर्षों से इस विषय में जो कुछ जान पाया है, उसी का यहाँ उल्लेख किया गया है। सारे प्रयोगों का वर्णन तो यहाँ संभव नहीं है, अतः प्रयोग के अंत में जो सिद्ध लगा, उसी का यहाँ उल्लेख किया गया है।

प्राथमिक शाला में लेखन, वाचन, गणित विषय की अपेक्षा संगीत विषय अनेक बालकों को प्रिय लगता है। इसके बावजूद मुझे यह साश्चर्य ज्ञात हुआ है कि सभी बालकों को संगीत अच्छा नहीं लगता। स्वतंत्र वातावरण में स्वैच्छिक वृत्ति से संगीत सुनने की छूट होने के कारण बालक स्वयं अपने स्तर पर यह निर्णय ले सकते हैं कि वे संगीत सुनना चाहते हैं या नहीं। यह निर्णय उनकी रुचि-अरुचि व्यक्त करता है। इससे हम जान सकते हैं कि बालकों को संगीत पसंद है या नहीं।

जिन बालकों ने संगीत की पसंदगी व्यक्त की है, उनमें से अनेक को अपने घरों से संगीत के संस्कार प्राप्त हुए हैं। जिनके यहाँ गान-तान होता है, वाद्ययंत्र बजते हैं, ग्रामोफोन बजता है उन बालकों में दूसरों की अपेक्षा संगीत में अधिक रुचि देखने को मिलती है। इस संबंध में घर के संस्कार प्राथमिक शाला अथवा बालमंदिर में स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। यह बात शिक्षकों को ध्यान में रखनी चाहिए।

यदि बालक संगीत सुनने को बैठा है तो उससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि वह संगीत प्रेमी है। कई बार बच्चे साथ देखकर बैठ जाते हैं, कई बार बैठने के लिए ही बैठ जाते हैं, कई बार वे अपना कर्त्तव्य समझकर बैठ जाते हैं। संगीत कक्षा में न आने वाले अथवा बाहर रह जाने वाले बालक संगीत-प्रेमी नहीं है, ऐसा मानना एक भूल है। अनेक बालक संगीत-विमुख दिखाई देते हैं, इधर-उधर चक्कर काटते रहते हैं, पर संगीत के प्रति उनके दिल में अनुराग होता है। जब कभी हम उनके घर जाते हैं तो हमें पता लगता है कि वे कितना कुछ जानते हैं। घर जाकर वे सुने हुए सभी गीत गाते हैं और तन्मयता से गाने में खो जाते हैं।

प्रत्येक प्राथमिक विद्यालय को यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि बालकों को धीरे-धीरे संगीत-प्रेमी बनाया जा सकता है। कुछ बालकों में संगीत के संस्कार बिल्कुल नहीं होते। ऐसे में उहें संगीत-कक्षा में बैठना जरा भी पसंद नहीं आता। कक्षा में गड़बड़ करने की बात उनके मन में आएगी। अतः शिक्षक को ऐसा वातावरण बनाना चाहिए कि सभी बालकों के मन में संगीत सुनने का भाव पैदा हो। वातावरण इस प्रकार बनाया जा सकता है।

संगीत-कक्ष स्वच्छ हो तथा धूपबत्ती से महकता हुआ हो। संभव हो तो दीप की मद्धिम रोशनी हो अथवा ऐसे अधखुले द्वार हों कि भीतर थोड़ा-थोड़ा

प्रकाश जाए। संगीत कक्ष में अवांछनीय चीजों की जरूरत नहीं। अर्थात् वह खाली होना चाहिए। हाँ, वहाँ शृंगार एवं सज्जा के लिए चित्र लगे हों तो ताजे फूलों की फूलदानियाँ भी हों।

ऐसे कक्ष में बालकों के बैठने का स्थान तय होना चाहिए। शिक्षक, गायक, वादक तथा श्रोताओं के स्थान निर्धारित होने चाहिए। गायक का स्थान ऊँचा होना चाहिए तथा कक्ष में आने-जाने वाले दरवाजे सुनिश्चित होने चाहिए।

संगीत शुरू होने से पहले बालकों को धीमे-धीमे कक्ष में दाखिल किया जाए तथा व्यवस्थित रीति से बिठाया जाए। वे शांत व स्वस्थ रहें, इसके लिए शिक्षक को अपनी योजना बनाकर काम करना चाहिए। चाहे तो वह हाथों के अभ्यास से या फिर बहुत धीमे-धीमे बोलकर वांछित सूचनाएँ प्रदान करे।

शिक्षक को स्वयं अपना बोलना-चलना बहुत शांत व स्वस्थ रखना चाहिए। न खिड़की-दरवाजों की खटखट हो, न कोई और तरह का शोरगुल हो। आसपास के वातावरण को यथासंभव शांत रखने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

गायक को अत्यंत धीमे और शांति से गायन शुरू करना चाहिए। शांत वातावरण में धीमे गायन को बालक गौर से सुनेंगे। शोरगुल में वे मधुर गायन पसंद नहीं करते। वे उससे ऊब जाते हैं और उठने की छूट होती है तो वहाँ से उठ भी जाते हैं। छूट न होने की स्थिति में वे ऊधम मचाते हैं और फिर शिक्षक को जोर से ऊँचे स्वर में बोलने को विवश करते हैं। शिक्षक को डंडे से नहीं, अपितु रस से, धैर्य से बालकों को शांत करना चाहिए।

गीतों के चयन के स्तर को लेकर कोई अंतिम निर्णयात्मक बात नहीं कही जा सकती। बालकों को लोकगीत सहज लगते हैं। जिन गीतों में बालकों की दुनिया प्रतिबिम्बित होती है, वही गीत उन्हें अच्छे लगते हैं। जिन गीतों में झमाझम होती है, ताल मजेदार होती है, जिनमें लय, धुन की सुंदरता तथा शब्दों का चयन होता है वे गीत बालकों को कर्णप्रिय लगते हैं। अधिकांशतः बालक गीतों के अर्थ पर गौर नहीं करते, वे गीतों की ध्वनि और ताल को सुनते हैं और गीत को पसंद, नापसंद करते हैं, जो बालक सिर्फ साहित्य प्रेमी—शब्द प्रेमी होते हैं, वे ही शब्द पर अधिक ध्यान देते हैं। यदि उन्हें शब्दों में आनंद नहीं आता, शब्दों से समझ में आने वाले गीत नहीं होते, तो वे उनमें रुचि नहीं लेते। इस दृष्टि से बालमंदिर में

अनेक गीत पसंद-नापसंद किए गए हैं। चयनित गीतों के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं। इससे आपको पता लगेगा कि गीतों की यह विविधता बालकों की पसंद की विविधता के कारण हैं। प्रत्येक गीत सुनने के पीछे किस तरह की रुचि काम कर रही है, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

बालकों में संगीत के संस्कार पैदा करना संगीत-शिक्षण का प्रथम कार्य है। ये संस्कार उन्हें प्रचुर मात्रा में संगीत सुनाने से पैदा होते हैं। बालकों को गीत कंठस्थ नहीं कराने चाहिए, न उन्हें शुरू में गाने को कहना चाहिए। बल्कि गाने को कहना ही नहीं चाहिए। महज उनकी उपस्थिति में काफी समय तक सुंदर वातावरण में गीत गाया जाना चाहिए। जब वे गीत सुनेंगे तो गीतों की धुनें उनके मस्तिष्क में बैठ जाएंगी और गीतों की ताल का असर उन पर दिखाई देगा। परिणामस्वरूप वे सुन्दर रसिक की भाँति शरीर एवं मन से संगीत का अनुभव करेंगे। यह अनुभव और यह संस्कार जैसे-जैसे तीव्र बनता जाएगा, वैसे-वैसे वे संगीत में अधिक समय तक बैठेंगे।

अलबत्ता, एक समय ऐसा आएगा कि जिस प्रकार खेत में उगाए गए बीज अंकुरित होकर फूट पड़ते हैं, वैसे ही ये संगीत के बीज अंकुरित होकर फूट पड़ेंगे और बालक स्वतः गाने लगेंगे। वह समय निश्चित रूप से आएगा और बालकों के गले से सहसा गीत फूट पड़ेगा। उनके हाथों-पैरों में ताल स्वतः आ जाएगी और वे गाएंगे, नाचेंगे, प्रयाण करेंगे, रास करेंगे, ताल-नृत्य करेंगे। शिक्षक को तो बस श्रद्धापूर्वक संगीत सुनाते रहना है।

इसके बावजूद ऊपर जिस 'समय' की बात कही गई है उसके आने तक संगीत-श्रवण के साथ सहगान या समूहगान की प्रवृत्ति जारी रखी जा सकती है। अर्थात् शिक्षक भी गाएँ और उनके साथ बालक भी गाएँ। या फिर जैसा वे सुनाएं, वैसा ये सुनें। पर यह काम भी शिक्षक द्वारा अच्छी तरह से संगीत सुनाने के बाद ही किया जाना चाहिए। सहगान में सारे बालक गाएंगे। जो बालक मन ही मन गाना चाहते होंगे लेकिन जो संकोचशील होंगे, वे खुशी से गाएंगे; जो अपने घर पर गाते होंगे, वे भी सबके साथ गाने लगेंगे और जो गाने में कमजोरी अनुभव करते होंगे वे भी उत्साह के साथ गाएंगे।

सहगान या समूहगान तथा संगीत श्रवण की प्रवृत्ति को बारी-बारी से चलाएंगे तो दोनों काम होंगे। नए गीत श्रवण-गान के समय दाखिल किये जा

सकते हैं और पुराने गीतों का समूहगान में पुनरावर्तन किया जा सकता है। श्रवण-संगीत के समय कोई गीत कितनी देर तक गाया जाए, यह बात शिक्षक को बालकों की रुचि देखकर तय करना चाहिए। कई गीत पाँच सौ बार गाये जाने पर भी बालक थकते नहीं, इसके पीछे या तो गीत की विशेषता कारणभूत होती है या फिर गायक की ही खासियत होती है। जो गीत बालकों को पसंद हों, और वे उन्हें जितनी बार सुनने की माँग करें, उतनी ही बार गाये जाने चाहिए। इस वजह से यदि वर्ष के अंत में गीतों की संख्या कम रह जाए तो कोई बात नहीं। संगीत में अधिक गीतों का सवाल महत्त्वपूर्ण नहीं, बल्कि गाये जाने वाले गीतों में रस आना और उसके परिणाम स्वरूप गीत का गले और मन में बैठ जाना महत्त्वपूर्ण है। गायक को बालकों का पक्ष लेना चाहिए, न कि गीतों का, अर्थात् वह अपनी पसंद के गीत गाने के बजाय वे गीत गाएँ जो बालकों के अनुकूल पड़ते हों।

गीतों के चयन के संबंध में ऊपर लिखा जा चुका है, दो-एक बातों का जिक्र करना यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा। गीत शुद्ध होने चाहिए अर्थात् बुरे भाव पैदा करने वाले नहीं होने चाहिए। वे लोकगीत हों, संगीत की चीजें हों या भजन हों—इन बातों का महत्त्व नहीं है। गीत चाहे जिस कोटि के हों, पर वे बाल मन पर असामाजिक, अधार्मिक या अनैतिक संस्कार डालने वाले न हों। साहित्य की दृष्टि से या यों ही जीवन की दृष्टि से बड़ों के लिए चलने जैसे गीत बालकों के लिए उपयोगी होंगे ही, ऐसा मानकर न चलें। जो गीत बालकों के तात्कालिक जीवन को छुएँ, उन्हें उपादेय लगें तथा आगे बढ़ने में मददगार सिद्ध हों, वही गीत चल सकते हैं।

गायक को बालकों के सामने बैठना चाहिए ताकि वे अपना गीत भलीभाँति सुनना सीख सकें। चाहे लोकगीत हो अथवा शिष्ट संगीत, चाहे जो हो, शिक्षक को उन्हें भलीभाँति गाना चाहिए। प्रभु का दिया हुआ कंठ तो जैसा भी होगा, चलेगा, लेकिन बेसुरापन नहीं चलेगा। शिक्षक को संगीत के गायक से इतना तो पूछ ही लेना चाहिए कि वह स्वयं बेसुरा गाता है या सुरीला। कई बार शिक्षक को इतना भी पता नहीं होता।

गीत गाने वाले को वांछित हावभाव के साथ गीत गाना चाहिए। अनेक शिक्षक गाते अवश्य हैं, पर महज खाना-पूरी करने के लिए। उनके चेहरे पर कोई

भाव नहीं आते । वे अपने शिक्षकीय बड़प्पन में खोये रहते हैं । वस्तुतः उन्हें बड़प्पन भुला देना चाहिए । बालकों में समानता का भाव जगाने के लिए उन्हें पूर्णतः खुल कर गीत गाना चाहिए । बालकों को ऐसा लगे भी कि शिक्षक का गाना उन्हें स्पर्श कर रहा है । शिक्षक की आँख में गायन के आनंद की चमक होनी चाहिए तथा चेहरे पर गीत के भावों की छाया । हृदय से गीतों के भाव भी उठने चाहिए । उसके अंग-अंग में गान की तान होनी चाहिए अर्थात् शिक्षक को भाव और अभिनय के साथ गाना चाहिए । अभिनय में नाटकीयता नहीं चाहिए । गायन के अनुरूप वह स्पष्ट भी हो और मधुर भी । यहाँ कुछ गुजराती गीतों की पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं । इन गीतों ने बालकों को बहुत आकृष्ट किया था । ऐसे गीत हर भाषा में हो सकते हैं :

- ❐ अस्त्रा नी धार मारी....
- ❐ नहिं जाऊँ रे गावलड़ी चारवाने....
- ❐ कां तो रे मेरी छेलण बीबियां.....
- ❐ लेखो लख्यो ललाटे....

जब गान-श्रवण और सहगान चल रहा हो, उस समय यदि कुछ बालकों को एकाएक गाने का शौक उमड़ पड़े तो हमें उनको गाने देना चाहिए । प्राथमिक विद्यालय में तो दो-दो, चार-चार बालकों की टुकड़ियों को भी साथ-साथ गाने देना चाहिए । उनमें से जो-जो सुर में गाते हों, उनको पहचान कर उनकी टुकड़ी से अलग गायन-मंडली बना देनी चाहिए । यह गायन-मंडली अक्सर गाने का काम करे । जो बालक गायन-मंडली में न आ सकें अर्थात् जो गा न सकें, उन्हें गवाने की तकलीफ नहीं करनी चाहिए । उन्हें तो बल्कि, सुनने देना चाहिए । उन्हें इतना लाभ मिल जाए तो उसे बहुत समझना चाहिए । इसका लाभ उनकी पीढ़ी को निर्विवाद रूप से मिलेगा । यह भावी लाभ भी मानव समाज का है, यह मानकर जिन्हें गाना नहीं आता, उन्हें बेकार में सम्मिलित करके उकताना नहीं चाहिए अपितु उन्हें सुनने का पर्याप्त अवसर देना चाहिए ।

कुछ बालकों को गाने का वरदान मिला हुआ होता है, वे गायन में श्रेष्ठ निकल सकते हैं । कुछ को स्वर एवं ताल की उत्तम समझ होती है, पर उनके कंठ चलते नहीं । ऐसे बालक संगीत सुनने का आनंद लेंगे । वे संगीत-श्रवण की अभिरुचि को उच्च स्तर प्रदान करेंगे । इसके साथ ही साथ वे संगीत-जगत में संगीत

के परिष्कार एवं विकास हेतु काम तो करेंगे ही । जिन बालकों को ताल का ज्ञान अधिक होगा और कंठ संगीत में भी जिनका ज्ञान होगा, वे गायक के बजाय वादक बनेंगे । वादन भी तो संगीत का ही एक अंग है । उसका भी कला-विषयक अपना निराला आनंद है । जिनको ताल का उत्तम ज्ञान है, यदि वे गाएंगे-बजाएंगे नहीं, तो नाचेंगे, प्रयाण करेंगे तथा ऐसी क्रियाएँ करेंगे जिनमें ताल का मुख्य रूप से उपयोग होता है । इन तमाम बातों को ध्यान में रखते हुए ही बालकों की पहचान की जानी चाहिए ।

इस पहचान के बाद शिक्षक को ऐसा आग्रह हर्गिज नहीं रखना चाहिए कि प्रत्येक बालक गाये, नाचे, बजाये । बालकों के संदर्भ में ऐसे कलात्मक विषय में पूरी तरह से उनकी रुचि के अनुसरण पर ही बल देना चाहिए, फिर भले ही यह काम प्राथमिक शाला में करना पड़े । फिर जब तक अध्ययन और परीक्षा की दृष्टि से इस विषय का महत्त्व बढ़ नहीं जाता, तब तक बालकों को इस विषय और मगजपच्ची से बालकों को मुक्त ही रखा जाना चाहिए ।

ऊपर जिस समूहगान की बात आई है, वहाँ से बालक को धीमे-धीमे एकल गान की तरफ खींचना चाहिए । जैसे-जैसे बालक का संकोच छँटता जाए और गाने में आत्मविश्वास बढ़ता जाए, वैसे-वैसे उसे वाद्य के साथ अकेले गाने हेतु प्रेरित करना चाहिए । वाद्ययंत्र बजाने वाले के साथ यदि बालक शुद्ध स्वर में गा लेता है तो इसे प्राथमिक विद्यालय के लिए बहुत बड़ी बात समझना चाहिए । प्राथमिक विद्यालय के अंतिम वर्ष में बालक इस स्तर पर पहुँचता है तो काफी है ।

नूतन शिक्षण पद्धति ऐसे विषयों में व्याकरण-पद्धति से इनकार करती है । अतः संगीत शिक्षण की शुरुआत 'सा रे ग म प ध नि' के ज्ञान से न करें । इस पद्धति से बालक ऊब जाता है, क्योंकि उसे आनंद नहीं आता । गायन सुनने में आनंद आ सकता है, पर 'सा रे ग म ' बोलने में अथवा राग को खींच कर गाने में बालकों को जोर पड़ता है । फिर, संगीत के पूर्व संस्कार के बिना बालकों के गले में तो क्या बड़ों के गले से भी सरगम भली-भाँति नहीं निकल सकती । प्राथमिक शाला के बालकों के कान शास्त्रीय ढंग से इतने संस्कारित नहीं होते कि उन्हें मात्र सा रे ग म भी आकर्षक लगे । अतः गान-श्रवण पद्धति ही प्राथमिक शाला के लिए उत्तम विधि है । स र ग म तो संगीत का व्याकरण है । बालकों को तो सीधे गीत दिया

जाए ताकि वे गाना शुरू करें । बड़े होकर भले ही वे संगीत का व्याकरण सीख लें । जहाँ विश्लेषण या व्याकरण सीखे बिना भाषा या अन्य विषय सीखे जा सकें वहाँ शुरू में व्याकरण सीखने-सिखाने की कोई जरूरत नहीं है ।

बालकों के समक्ष गाकर उन्हें संगीत में प्रेरित किया जाए, इसके साथ ही हमें यह भी सोचना चाहिए कि वे संगीत में किन वाद्यों को उपयोग में लाएँ ।

आजकल हारमोनियम का उपयोग बढ़ रहा है देश में । परिणामतः संगीत की मधुरता और सुंदरता बिगड़ती जा रही है । गायकों के कंठ खराब हो जाते हैं । विकृत स्वर दब जाने से स्वर की रसिकता व कोमलता अर्थात् स्वरमाधुर्य पर ध्यान दे पाना एक तरफ रह जाता है । वस्तुतः गायन में कंठ ही मुख्य है । यह ईश्वर द्वारा दिया हुआ वरदान होता है । इसको बेसुरा रहने देना तथा वाद्ययंत्र के स्वर के नीचे दबा देना प्रकृति के वरदान के प्रति नासमझी और उसका दुरुपयोग जैसा कार्य है । उत्तम तो तन्दूरा होता है । उसके संग गाने वाले को बालकों के समक्ष गाना चाहिए । वह न हो तो दिलरुबा के संग गाना अच्छा है । शिक्षक को दिलरुबा बजाना आना चाहिए, वह संभव न हो तो इकतारे पर ही गाना चाहिए । यदि ये सब संभव न हों तो एकाकी मुँह से ही गाए, परंतु हारमोनियम का उपयोग न करे ।

प्रत्येक शिक्षक वाद्ययंत्र जाने ही, ऐसा कहना ठीक नहीं है । उसे भावपूर्वक, स्वर में रहते हुए गाना तो सीख ही लेना चाहिए । जिस तरह से कल के शिक्षकों के लिए भूगोल, इतिहास और गणित अपरिहार्य थे, उसी प्रकार नए शिक्षक के लिए संगीत और चित्रकला का थोड़ा बहुत ज्ञान होना जरूरी है । इनके बगैर नहीं चलेगा और आने वाले समय की प्राथमिक शालाएँ तो हर्गिज नहीं चलेंगी ।

शाला में सितार को भी काम में लाया जा सकता है । उस पर गीत बजाते हुए ताल का ज्ञान दिया जा सकता है । इस संबंध में आगे लिखूँगा । बालकों को अक्सर सितार जरूर सुनाई जाए, बशर्ते कि वह शाला में उपलब्ध हो सके तथा सुनाने की व्यवस्था संभव हो सके ।

प्राथमिक शालाओं को ग्रामोफोन का उपयोग अवश्य करना चाहिए । संगीत के संस्कार तथा रुचि पैदा करने के लिए आज की दुनिया में यह एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है । शालाएँ या तो इसे अपने यहाँ खरीदें या कहीं से माँग-ताँग

करके भी बालकों को सुनाएँ । आजकल तो सुरुचिपूर्ण संगीत के रिकार्ड भी पर्याप्त मात्रा में मिलने लगे हैं । अब धीरे-धीरे शिक्षण में काम आने वाले गीतों के रिकार्ड भी आने लगेंगे । शिक्षक को गाना आए या न आए, पर ग्रामोफोन तो गाएगा ही । नृत्य आदि में भी यह मददगार हो सकता है ।

भारतीय संगीत तालयुक्त है । तालविहीन संगीत शुष्क होता है । उसे मर्यादा में लाकर व्यवस्थित नहीं किया जा सकता । ऐसे में मिठास नहीं आ सकती । हमारे यहाँ ताल के अनेक वाद्ययंत्र हैं । प्राथमिक शालाएँ मंजीर, करताल अथवा ढोल, मंजीर, नगारे—कोई एक अथवा एकाधिक वाद्ययंत्र रख सकती हैं । इन यंत्रों से सृजित होने वाली ताल संगीत को सुंदर बनाएगी और इनके साथ बालकों की ताल-शक्ति अथवा संस्कारिता जागृत होगी ।

अब हम ताल पर आते हैं । संगीत की भाँति हमें बालकों में ताल के संस्कार भी डालने हैं । एक बार ताल का ध्यान बनेगा, कि वे प्रयाण, डंडिया रास, रासड़े, नृत्य आदि आसानी से पकड़ लेंगे क्योंकि इन सब का आधार ताल ही तो है ।

ताल की समझ विकसित करने के लिए हमें गायन के साथ ताल को जोड़ना होगा, अर्थात् सादी ताल के गीत गाएँ तथा खंजड़ी, ढोल या मंजीरे पर सीधी-साधी ताल दें । जैसे-जैसे वे ताल सुनेंगे, वैसे-वैसे संस्कारी बनते जाएंगे । जिस प्रकार हम ताली से सीधी-सीधी ताल देते हैं उसी प्रकार ढोल या खंजड़ी पर भी सादी ताल देंगे तो चलेगा । इससे आगे बढ़कर शिक्षक को अलग-अलग तानों का ध्यान हो तो भले ही वह ढोल या नगारों पर बजाए, कभी-कभार शिक्षक स्वयं भी गीत के साथ ढोल या ढोलकी बजाए, कभी गाने वाला कोई अन्य हो तो स्वयं उसके साथ ताल बजाए । बालकों से यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि वे ताल दें या ताल लगाना सीखें ।

बालकों को ताल का ख्याल आ जाने के बाद ही उन्हें ताल-बद्ध चलना सिखाएँ । एक लकीर पर उनको खड़ा कर दें, उनके हाथों में डंडे दे दें और तब बाजा बजाएँ । गाना ताल-प्रधान हो । प्रयाण गीत बजाने पर बालकों में तत्काल ताल का संचार होगा और पैर पछाड़ने की उनकी इच्छा होगी । उसी क्षण शिक्षक को स्वयं ताल पर चलकर बालकों को बताना चाहिए । शिक्षक मुँह के सामने और

विद्यार्थी पीछे-पीछे ताल पर पैर पटकते चलें तो ठीक है। शिक्षक भले ही बाद में हट जाए और बालकों को अकेले ही प्रयाण करने दें। बजाने वाले को ताल की लय को कभी बढ़ाते जाना चाहिए और कभी घटाते, ताकि बालक भी अपनी गति को तदनुसार बढ़ाएँ व घटाएँ। इसी से हमें पता लगेगा कि उनकी ताल की समझ कितनी व कैसी है। यदि कोई बालक बेताला भी होगा तो तालवालों के साथ चलने से स्वतः ताल में आ जाएगा। यदि अधिकांश बालकों ने ताल को नहीं समझा है तो शिक्षक को गानों के साथ ताल की प्रवृत्ति जारी रखनी चाहिए।

प्रयाण में काम आने वाली कतिपय सरगमें ये हैं :

1. सा ग, सा ग
2. सा सा, ग ग, रे रे सा
3. ग म प, ग म प, ग म प ध रे

प्रयाण की भावना विकसित करने के लिए बालकों को उन विद्यालयों में ले जाना चाहिए जहाँ प्रयाण किया जाता है। यदि किसी अन्य स्थान पर ले जाकर बता पाना संभव हो तो भले ही उन्हें वहाँ ले जाएँ।

अध्यापक आगे बढ़कर बालकों से सादा प्रयाण, दो-दो का प्रयाण, चार-चार का प्रयाण अपने आप करवा सकता है। बालक प्रयाण में बहुत आनंद लेते हैं। उनको व्यायाम मिलता है, इससे शरीर में स्फूर्ति आती है, अतः वे इस काम में रुचि लेते हैं।

प्रयाण के साथ-साथ शिक्षक तरह-तरह की कवायदें भी करवा सकते हैं। उनके साथ ताल-प्रधान गीत भी हो सकते हैं।

इस संबंध में बालमंदिर में कुछ प्रयोग किए गए हैं, उन पर लिखा गया लेख प्राथमिक शालाओं के लिए उपादेय हो सकता है, अतः यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। संभव है इस लेख से कुछ बातों की पुनरावृत्ति हो, फिर भी प्रकाशित करना समीचीन समझा गया है, क्योंकि यह प्रयोगसिद्ध लेख है।

: 3 :

मुझे 'बाल मंदिर में संगीत का विकास' विषय पर लिखना था। संगीत का मुझे कितना-कुछ ज्ञान है, यह बात छिपाना भी चाहूँ तो छिपा नहीं सकूँगा।

बालमंदिर के नन्हें बालक भी मेरे इस अज्ञान से अच्छी तरह परिचित हैं। पर संगीत की प्रगति का दृष्ट होने की वजह से मैं स्वयं को इस विषय पर लिखने का अधिकारी मानता हूँ।

कोई चिढ़कर यों कहेगा कि 'भला आपको संगीत का पूरा ज्ञान न होते हुए भी आपने प्रयोग किया, यह तो बड़ी भारी गलती है। और इस बात को छिपाने के लिए आप लेख लिखने बैठ गये, यह दूसरी गलती है। इस तरह की दोहरी गलतियाँ आप क्यों करते हो?' इस संबंध में मेरी मान्यता है कि अगर मुझे संगीत बहुत अच्छा आता होता तो मेरा प्रयोग जरूर निष्फल गया होता, क्योंकि तब मेरा संगीत-ज्ञान बालकों के स्वयं-विकास में अवश्य बाधक बनता और उन्हीं से संगीत-शिक्षण का स्वाभाविक विकास जानने के बजाय मैंने उनका सिर दुखने तक उन्हें संगीत सिखाकर उनके कान फोड़ डाले होते! वर्तमान शिक्षाविद् बहुत ठीक कहते हैं कि शिक्षक अपने विषय में शून्य प्राय हो तो ज्यादा अच्छा है, क्योंकि वैसा शिक्षक बालकों को सिखाने का प्रयत्न करके उनके विकास के मार्ग में बाधक तो नहीं होता, अथवा उन्हें उल्टे रास्ते तो नहीं ले जाता।

शिक्षण में संगीत की महत्ता को मैंने बालमंदिर की स्थापना से पहले ही समझ लिया था। बालमंदिर की शुरुआत के साथ ही संगीत-शिक्षण की शुरुआत हुई। श्रीमान..... हमारे संगीत शिक्षक थे—अर्द्धदग्ध किंडरगार्टनिष्ट, बाजा बजाने, बालकों को रमाने और दिखावा करने में प्रवीण। 'मेरे घर में रोज बिल्ली आती है' यह गीत वे श्रीमान सिखाने लगे। एक कक्ष में लकीर खींच कर उन्होंने बालकों को वहाँ खड़ा कर दिया। बालक वहाँ खड़े रहते और वे 'मेरे घर में रोज बिल्ली आती है' गीत बाजे पर गाते, बच्चों से कहा गया कि वे गीत के साथ-साथ हावभाव करें। बालकों को गीत बहुत पसंद था। बचु, उर्मिला, कुसुम और अन्य बालक गीत गाते और कसरत करते अच्छे लगते। लेकिन मैंने इस बात को पसंद नहीं किया कि शिक्षक जैसा बताए, बालक वैसे ही हावभाव करें, यह तो मात्र अंधानुकरण था। मैं उसमें कुछ परिवर्तन करना चाहता था। बस, तभी वे श्रीमान चल दिए और संगीत का शिक्षण बंद हो गया, सिर्फ एक दिन के लिए।

वर्तमान संगीत शिक्षक श्री चुन्नीभाई के आने से पहले कहीं संगीत बंद न हो जाए, इस भय से दो-एक दिनों के लिए मैंने एक अन्य संगीत शिक्षक को रख

लिया था । वे न गाना जानते थे, न बजाना । उन्हें सा रे ग म भी आता है या नहीं, इसमें भी शंका थी । फिर भी 'शिक्षण में संगीत का स्थान होना चाहिए' इस विचार से प्रेरित होकर मैंने उन्हें अपनी मरजी से संगीत-शिक्षण करने की छूट दे दी, क्योंकि मैं अपना दायित्व जानता था ।

'बिल्ली बाघ की मौसी है' शीर्षक एक गीत उनको बहुत प्रिय था । अकेले-अकेले उन्होंने यह गीत कई बार गाया । यह गीत बार-बार गाने से उन्हें अपने आप पर विश्वास हो गया था कि वे गाने में कुशल हैं । उन्होंने वह गीत सिखाना शुरू किया । ताल और भाव के साथ वे उस गीत को गाते । गीत का मजा निराला था, तभी तो आज तलक बच्चे उस गीत को गाते हैं ।

वे श्रीमान हाथों के लटके करते हुए उस गीत को गाते । बालक मोहित हुए से उनके गीत और लटकों का अनुकरण करते । तीन दिनों के निराहार उपवास के बाद इतने ही दिनों की सूखी रोटी जिस प्रकार मीठी लगती है, उसी प्रकार (दो-एक अपवादों को छोड़कर) जिन बालकों ने पिता के घर में संगीत सुना ही नहीं था, यदि वे ताल-सुरबद्ध संगीत में तल्लीन हो जाएँ, तो कैसा आश्चर्य ! बालकों की तल्लीनता का खास कारण था गाने वाले का आत्मविश्वास ! उसका विश्वास उसके चेहरे, उसके हावभावों, तथा बेसुरे से स्वर में भी पूरी दृढ़ता के साथ व्यक्त हो रहा था और इसी में, न कि संगीत की मधुरिमा में, बालक मुग्ध बन गए थे । संगीत उसके गले से नहीं अपितु विश्वास से प्रस्फुटित हो रहा था । अगर ऐसा नहीं होता तो बालमंदिर के स्वतंत्र बालक उसे अकेले-अकेले अरण्यरोदन करने छोड़कर कहीं न कहीं चले जरूर जाते । वह गाता :

बिल्ली बाघ तणी मासी, जोईने उंदर जाय नासी ।
चामड़ी ऊपर चटापटा ने पूंछड़ी पटपट थाय
खूणा बचाळे खोळी-खोळी ने झड़पी उंदर खाय ....बिल्ली

'चामड़ी ऊपर चटापटा' बोलते समय वह ताली बजाते हुए चटपट की आवाज जरूर निकलवाता । हावभाव करते समय उसकी देह में कदाचित फ्रॉबेल की आत्मा प्रविष्ट हो जाती होगी !

वह कुशल शिक्षक मैं स्वयं हूँ ।

फिर तो श्री चुन्नीभाई आ गए और उन्होंने संगीत-शिक्षण का काम सँभाल लिया । वे श्रेष्ठ सितारवादक हैं । गाते भी बहुत अच्छा हैं । रहीम खां के शिष्य रहे हैं । उनकी सेवा में रातों पंखा झला है । ठेठ उदयपुर तक जाकर मुसलमान उस्तादों से तालीम ली है । अपनी सामर्थ्य-भर जितना कुछ अर्जित कर सकते थे, उसे पाने में लगे रहे, लौटे नहीं । श्री चुन्नीभाई संगीत के उपासक और मस्त फकीर की बजाय शिक्षक अधिक है । वे गाँव में संगीत का ट्यूशन करते थे और हम उन्हें पकड़ लाए । यह बात किसी की कल्पना तक में नहीं है कि उन्होंने पहले-पहल कौनसा गीत गाया ?

श्री चुन्नीभाई बहुत भले हैं । उनमें संगीत के उस्तादों जैसी तुनक-मिजाजी नहीं है । जैसा कहें वैसा गा देते हैं और इसीलिए संगीत शिक्षा अथवा ट्यूटर के रूप में अधिक योग्य हैं । इसी विशेषता के कारण वे संगीत के उस्तादों को प्रसन्न करने की बजाय कम से कम संगीत जानने वालों को अधिक प्रसन्न कर सकते हैं ।

जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है संगीत के आचार्य पद पर मैं आसीन था । मुझे राग-रागिणियों का ज्ञान कहाँ था, जो में उनसे राग-रागिणियाँ सुनाने को कहता ! विद्यार्थी काल में सितार वाले एक मित्र ने सितार बहुत सुनाई थी । कभी-कभार बीच-बीच में हारमोनियम के गुटके जरूर खड़खड़ाए थे, सितार के तार भी छेड़े ही थे । पर ये सब तो वकालत, बोर्डिंग तथा विनयमंदिर में बीती हुई बातें हैं । आज से तो नया श्रीगणेश करना था ।

मैंने चुन्नीभाई से कहा : हमें 'बिल्ली बाघ.....' वाला गीत गाना है । सोचता हूँ, मेरी बात सुनकर चुन्नीभाई मन ही मन बहुत हँसे होंगे । उन्होंने मेरी योग्यता माप ली होगी । कहने लगे : जरा गाइए तो.... ? संगीत का किसी को ज्ञान हो तो गाते शर्म लगे ना ! मैंने तो अपने असली ढंग से अपना प्रिय गीत चुन्नीभाई को गाकर सुना दिया । चुन्नीभाई ने तत्काल उसे हारमोनियम में उतार दिया । अगले दिन वह गीत बालकों को हारमोनियम पर सुनाना तय रहा ।

बाजा बजा तो कुतूहल के नाते बच्चे दौड़े आए और छोटा-सा कमरा उनसे भर गया । मैंने सब को बिठा दिया । मुझे एक खयाल आया : चलो, देखें तो सही कि बिल्ली का जो गीत मैंने बालकों को गाकर सुनाया था, क्या वे उसको बाजे पर बजाए जाने से पकड़ सकते हैं या नहीं ? मैंने चुन्नीभाई से कहा कि आप गीत गाना

मत, सिर्फ बाजे पर निकालते रहना । हारमोनियम पर 'बिल्ली बाघ तणी मासी' का गीत बजा नहीं, कि बालकों के कान चौकन्ने हो गए । मन ही मन कहने लगे, अरे यह तो हमारा बिल्ली का गीत है । बस, वे गाने लगे और हावभाव करने लगे । मुझे लगा कि मुँह से सुनाए गए गीत को बच्चे बाजे से पकड़ने लगे हैं । मुझे उनमें संगीत-प्रियता के दर्शन हुए ।

बालकों ने बाजे से एकदम बिल्ली का गीत ढूँढ निकाला, इससे मुझे आश्चर्य हुआ । चुन्नीभाई को भी आश्चर्य हुआ । इस प्रकार बिल्ली के गीत ने हमारे संगीत प्रयोग में आदि-स्थान प्राप्त किया ।

अगले दिन मैं बालकों को संगीत गवाने का प्रबंध कर रहा था कि तभी चुन्नीभाई आए, बोले : 'हम सरगम क्यों न सिखाएँ?' मैंने कहा—'ठीक है ।' बालक बाजे के चारों ओर खड़े रहे और चुन्नीभाई उन्हें सरगम बुलवाने लगे । एक बालक सरगम बोलता है और चुन्नीभाई या तो उसे 'बहुत अच्छा' कहते हैं या फिर 'दुबारा बोलो' कहते हैं । दूसरा बालक सरगम बोलता है तो वे कहते हैं कि तुम इससे ठीक गाते हो । वाह, जल्दी सीख लोगे ।' मुझे यह पद्धति अनुचित लगी ।

मैंने देखा कि इस तरह सिखाने से बालकों की हानि होती थी । जिन बालकों को गाना आता था वे हँसते थे और जिनको शाबासी नहीं मिलती थी, वे धीमे से बाहर जाने की चिन्ता में थे । मैं बोला : 'चुन्नीभाई! क्यों न हम सरगम बजाएँ और बालक सरगम के साथ पैर पटकते हुए चलें, साथ गाना हो तो भले ही गाएँ ।'

'बिल्ली का गीत' गाते समय बालक हाथों से अभिनय करते थे और ताल देते थे । उन्हें देखकर मैंने अनुमान लगाया कि बालक सरगम के साथ पैरों की ताल देते हुए चल सकते हैं । मुझे स्वयं को ये सब बातें सोचने और खुद करने में बालकों के जितना ही आनंद आता था, क्योंकि इस विषय में मैं स्वयं बालक था । अच्छा था कि उस विषय में मैं अधिक नहीं जानता था । यदि वैसा न होता तो मेरे द्वारा बालकों के अनुसरण के बजाय बालक मेरा अनुसरण करते । हमने तो सरगम के अनुसार पैरों को उठाते हुए चलना शुरू किया । सामने मैं और चलने वाली मेरी टोली । मैं तो मानो कोई बड़ा बैंडमास्टर बन गया । बालकों के साथ मैं चल रहा था और बालक मेरे साथ चल रहे थे । पर यह प्रयाण अधिक देर तक नहीं चला ।

एक बात मेरी समझ में हमेशा आती रही हैं । अगर बालकों को किसी काम में आनंद आता है तो वह बात मेरी नजर में आ जाती है । अगर बालकों को आनंद न आए अथवा उनकी रुचि कम हो तो ऐसे में क्या किया जाना चाहिए, यह बात भी मेरी समझ में आ जाती है । मैंने देखा कि प्रयाण के समय गीत अथवा ताल का अनुसरण करने की बजाय बच्चे एक-दूसरे के साथ धक्का-मुक्की करने या मनोविनोद में पड़ जाते हैं । तब मैंने चुन्नीभाई से कहा— 'हमें फिलहाल बालकों को गाकर सुनाने तक ही सीमित रखना चाहिए । वे बैठे रहें और मात्र सुनें । अगर उन्हें ताल के साथ ताली देना आता है तो भले ही दें ।'

चुन्नीभाई बोले—'बिल्कुलठीक ।'

मैंने अत्यंत गंभीरता और सरसता से 'पंखी की टोली' नामक गीत गाकर सुनाया । चुन्नीभाई ने उस गीत को हारमोनियम पर बिठा दिया । कुछ ही दिनों में अनेक बालकों को यह गीत बोलना आ गया, गाना नहीं । वे तो ललकारने लगे । चुन्नीभाई को कहीं चिंता न हो, इसलिए मैंने कहा—'यह तो जमा नहीं, चुन्नीभाई! जब इनको गाना आ जाए तभी गाएँ, फिलहाल ये चुपचाप सुनते रहें, क्यों? ऐसा कर लें! ताली भले ही बजाएँ ।

चुन्नीभाई बोले—'ठीकहै ।'

फिर तो 'बिल्ली बाघ की मौसी है', और 'पंखी की टोली' नामक गीत सुनाये जाने लगे । हारमोनियम बजता और बालक ताली बजाते । यह क्रम कई दिनोंचला ।

बीच में दो एक बातों का जिक्र कर दूँ । संगीत बहुत अच्छा विषय है । संगीत से हरिण शिकारी के वशीभूत हो जाता है, साँप संपेरे की टोकरी में कैद हो जाता है और आदमी तो इस पर अपना जीवन न्यौछावर कर देता है । संगीत की महिमा अवर्णनीय है । हमारी मान्यता है कि शायद ही कोई अभागा होगा, जिसे संगीत प्रिय न लगे । पर पहली ही बार मुझे पता चला है कि कई बच्चे वाद्ययंत्र बजने के साथ ही संगीत कक्ष से बाहर निकल जाते । शुरू-शुरू में कुतूहल अधिक था, अतः बालकों से संगीत का कक्ष पूरा भर जाता था, लेकिन नवीनता क्षीण होने के साथ ही संगीत में रुचि लेने वाले कुछेक बालक ही कक्ष में रहते । शेष बालक कानों में डूजा डाल लेने का प्रयत्न करते । मैं मानता था कि संगीत रुचिकर विषय

है अतः प्रत्येक व्यक्ति को अच्छा लगना चाहिए पर अनेक बालक संगीत को छोड़कर चले जाते तो यह देखकर मुझे आश्चर्य होता । इस संबंध में उनकी वृत्ति को जानने हेतु मैंने थोड़े-बहुत प्रयोग किये थे ।

मैं सभी बालकों को युक्ति-प्रयुक्ति से संगीत-कक्ष में लाता । किसी के साथ अनिवार्यता की तो कोई बात ही नहीं थी । कहानी कहता, उसके बाद ध्यान की प्रवृत्ति चलती और तब मैं उन सबको संगीत-कक्ष में ले आता । मैं ऐसी व्यवस्था करता कि संगीत-कक्ष में तो हर किसी को आना ही पड़ता । इन आने वाले बालकों में से कइयों की नजर दरवाजे पर टिकी होती थी । पर मैं दरवाजा बंद रखता । संगीत शुरू होता, उसमें रस लाने के लिए प्रयोग शुरू करता । दरवाजा थोड़ा खुलता कि बस ऊँचे-नीचे होने वाले कई बालक आहिस्ते से उठकर चल देते । मैं पूछ लेता —'कहाँ चल दिए ?' शायद मेरी इच्छा उन्हें बाहर जाने देने की नहीं होगी, ऐसा समझ कर वे कहते—'पेशाब करने ।' जब तक संगीत चलता रहता, तब तक उनका पेशाब पूरा ही नहीं होता था । मैं सोचता —'क्यों होता है ऐसा ?' आखिर में यही अनुभव हुआ कि कई बालक ऐसे होते हैं जिनके पास संगीत के लिए कान नहीं होते अथवा संभव है किसी ने उनके कान बेसुरे कर दिए हों । ऐसे बालकों को संगीत ऐसा लगता था मानो कानों को काट रहा हो ।

क्या पता यह वर्ग औरंगजेब जैसी रुचि वाला हो! औरंगजेब ने कहा था कि संगीत कला को इतने गहरे दफना देना चाहिए कि बाहर ही न निकले । एक समय ऐसा भी था कि हमारे शिक्षाविद् श्री नानाभाई भट्ट संगीत सुनने के लिए बैठ ही नहीं सकते थे । जबरदस्ती बैठते थे । मित्रों के आग्रह के वशीभूत हो जाते तो न जाने उन्हें क्या हो जाता था । उनका सिर दुखने लगता था । आखिरकार उन्हें जाना पड़ता था । न जाने कैसा प्राकृतिक बैर था । पर आग्रह करने पर नानाभाई ने अपने कानों को संस्कारित बनाया है । हालांकि संगीत में पूरा रस नहीं लेते फिर भी इस विषय से दूर भी नहीं भागते ।

हमारे संगीत-कक्ष से भागने वाले बालकों के साथ ही कहीं यही बात तो नहीं ? बालकों का एक वर्ग तो ऐसा था कि वह बंद कमरे में बैठना सहन ही नहीं करता था । कमरा बंद होते ही वे कैद किए जाने जैसी व्यथा महसूस करने लगते । जब मुझे यह पता लगा कि माताएँ बच्चों को कमरे में बंद करके मारती हैं तब

समझ में आया कि अनेक बालकों को बंद कमरे से जो भय लगता है, शायद वह इसी कारण से उत्पन्न हुआ हो ।

कई बालक ऐसे भी थे जो संगीत-विरोधी न थे, बस वे गायन-प्रिय नहीं थे बल्कि ताल-प्रिय थे । अगर उनके स्नायुओं को जकड़ देने वाली तालबद्ध कसरतें संगीत में कराई जाती तो शायद वे संगीत-कक्ष से बाहर नहीं निकलते । उस समय के भगवानलाल और मूलजी आज संगीत के साथ लड़ाई में रुचि लेते हैं । संगीत में इनकी रुचि नहीं है अपितु संगीत-बद्ध स्नायु-व्यायाम में विशेष रुचि है । इन्हें संगीत की बजाय ताल अधिक पसंद थी । लड़ाई में वे सुंदर रीति से ताल- प्रियता प्रदर्शित कर सकते हैं । कई बालक संगीत सुनने की इच्छा होते हुए भी अपने मित्रों की देखादेखी बाहर चले जाते, तो कुछ इसलिए बाहर निकल जाते थे, क्योंकि उन्हें संगीत पुरानी चीज लगता था । कक्ष के भीतर बैठे रहने वाले लोग कोई संगीतात्मा हों, ऐसी बात नहीं थी । कई शब्द-प्रधान बालक गीत के शब्द सुनने को बैठ जाते । हमारी मनहर बहन इसी तरह की छात्रा हैं । कुछ बालक शरमा-शरमी में भी बैठे रहते । बाकी के थोड़े-बहुत संगीत के प्रति सच्चे प्रेम के कारण बैठते । इनमें उर्मिला, बचु, कुसुम और लीलू आदि बालक-बालिकाओं को शामिल किया जा सकता है ।

शुरुआत में संगीत की रुचि नहीं जम पाती, यह स्वाभाविक बात थी । बालकों के कानों को अभी किसी भाँति की शास्त्रीय शिक्षा नहीं मिली थी । ये साधन ढाई बरसों के बाद विलायत से आने थे । भोपा, देवेन्द्र और नौतमलाल के कानों में गाढ़ा-गाढ़ा मैल भरा था । ऐसे में संगीत किस मार्ग से प्रविष्ट हो, यह एक सवाल था । शहर के शोर-शराबे ने तो कहीं उनके कान बहरे नहीं कर डाले थे, यह एक विचारणीय मुद्दा था ।

हमारे गीत बाल-जीवन की विषय-वस्तु से युक्त थे, फिर भी क्या वे बालोचित रागों में थे या नहीं, यह भी एक सवाल था । फिर भी कुसुम, बच्चु, उर्मिला आदि बालक-बालिकाएँ पूरे समय बैठते और भानुमति, काला व अन्य छलांग मारते हुए भाग छूटते, यह एक सचाई है ।

पहले तीन महीने का समय निकल गया । अगले छह महीनों में हम ठीक-ठीक गति से आगे बढ़े । हारमोनियम के साथ हमने सितार को दाखिल

किया । आगे चलकर दिलरुबा को पसंद किया । हमने अनुभव से यह निर्णय लिया कि बालकों के लिए तंतु-वाद्य अधिक उपयोगी होता है । वह बालकों के स्वरों को वांछित सहयोग देता है । अभी इकतारे पर हमें अनुभव करके देखना शेष है । ताल के परिचय से नृत्य और डांडियारास तथा गीत-श्रवण से एकल गायन पर हम इस अवधि में ही आए । इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है ।

ताल परिचय : डांडिया रास

'बिल्ली' तथा 'देखो-देखो पंखी' की मैत्री चालू थी । इन दोनों की टोली से मैंने एक बात सीखी कि भले ही बच्चे गीत की पंक्तियाँ याद रख सकें या नहीं, भले ही वे गा सकें या नहीं, वे समझ सकें या नहीं, पर इतना तय है कि उनमें से अधिकांश बच्चे ताल का आसानी से अनुसरण कर सकते हैं ।

मुझे लगा कि अगर मैं बालकों के सामने सादे ताल-प्रधान गीत प्रस्तुत करूँ तो वे ताल को ग्रहण करने में सक्षम हैं और उसके साथ आगे बढ़ा जा सकता है । अतः हमने ऐसे गीतों का गाना-बजाना जारी रखा । शुरुआत में हम ताली बजाकर ताल देते थे । ताल भरी हुई ही देते । लेकिन जब ताल गीत के साथ दी जाती तो कई बार तालियों की गड़गड़ाहट के बीच में ताल खो जाती और कई बार हारमोनियम और चुन्नीभाई का गला दोनों खो जाते और महज तालियाँ बजाने का खेल चलता रहता । अतएव मैं ताल को नियंत्रित करने के बारे में विचार करने लगा ।

लकड़ी के टुकड़ों से बिल्डिंग बनाने के खेल-उपकरण हमारे यहाँ थे । मैंने उन टुकड़ों को खड़ताल की भाँति ठक-ठक करके ताल देने के काम में लिया । जिन बालकों को ताल देने की समझ थी, उनको ही मैंने ये टुकड़े दिए । इस तरीके से अन्य बालकों का बेतालापन कुछ बंद हुआ और ताल की तरफ उनका ध्यान गया । धीमे-धीमे मैं लकड़ी के टुकड़ों से ताल देने वाले बालकों की मंडली को बढ़ाता गया । अब बेताले बालकों का ध्यान ताल की स्थूल-क्रिया की तरफ कानों और नजरों से अत्यंत सूक्ष्मता से आकृष्ट हुआ । धीमे-धीमे वे भी तालबद्ध होने लगे । उन्हीं दिनों हमने गायन की विषयवस्तु में 'चले आओ महीने को मुहम्मद नाम ले लेकर' को सम्मिलित किया । ताल में हमने दो विधियाँ प्रयुक्त की—एक धीमी और दूसरी चलत में । इन के लिए मैं विलंबित और द्रुत जैसे शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग

नहीं करता । जब गीत विलंबित गति से चलता, तब लकड़ी के गुटकों की ताल विलंबित गति से चलती और जब गीत द्रुत गति से चलता तो उनकी गति भी द्रुत हो जाती । दीवाली से पहली रात को तालियाँ पीटती गीत गाती दरिद्रता निष्कासित करने के लिए जाने वाली महिलाओं का स्मरण हुए बिना नहीं रहता ।

एक बार नया विचार सूझा । मैं सोचने लगा कि लकड़ी के ये टुकड़े एक तरह से डांडिये ही तो हैं । अगर बच्चे डांडियों को इस तरह टकरायें तो डांडियारास का समाँ नजर आने लगे । मैंने बालकों से कहा कि वे लकड़ी के इन टुकड़ों को डांडियों की माफिक टकरायें और वे तुरंत समझ गए । वे तत्काल डांडिये लेकर आ गए । चौक से एक गोला खींचा और जिन बालकों को डांडिये बजाना आता था, उनको खड़ा किया । लेकिन अभी डांडिया रास नाम की चीज मीलों दूर थी । गोले पर बच्चे खड़े रहें और विलंबित या द्रुत गान के अनुसार मात्र डांडियों को टकराकर बजायें । मैंने चुन्नीभाई से कह दिया था कि वे अकेले बाजा बजाये । कई दिनों तक इस तरीके से काम चला अतएव सब को खड़े रहकर डांडियों से द्रुत और विलंबित ताल बजाना आ गया । उस समय अंबु, बचु, कुसुम, शांता और बड़ी वाली अंबु मुख्य थे । इस तरह का डांडिया रास 'बिल्ली', 'पंखी की टोली' और 'चले आओ' नामक गीतों की तर्ज के साथ चलाया जाता और बहुत अच्छा जमता । बहुत आनंद आता । अब बच्चों को डांडियों की ताल के साथ एक पैर पटकना बताया गया । तदुपरांत उन्हें डांडियों की ताल के संग पैर पटकना बताया गया । तदुपरांत उन्हें डांडियों की ताल के संग पैर को आगे-पीछे ले जाना बताया गया । बच्चे जरा झुक कर डांडियों की ताल देने लगे । फिर तो वे गोल-गोल घूमते गए, पैर पटकते गए और अपने डांडियों की ताल देते गए । इस प्रकार डांडियों का काम आगे चला ।

डांडिया रास सिखाने के लिए हमने एक और योजना तैयार की थी । दस फुट के अंतर पर चौक से दो लंबी लकीरें खींची । एक लकीर पर बालक कतारबंद खड़े हो गए और दूसरी पंक्ति पर मैं, नर्मदा बहन और दिवाली बहन खड़े हुए । विलंबित लय में बाजा बजाया गया । हम लोग डांडियों को टकराये बिना ताल के अनुसार पैर उठाते और नीचे रखते । जब ताल द्रुत होती तो हम लकीरें छोड़ कर दोनों लकीरों के बीचोंबीच खिंची एक लकीर की तरफ दोनों तरफ से बालक और हम डांडिये बजाते और पैर उछालते । और नजदीक आकर आमने-सामने बड़े

उत्साह से कूदते और डांडिये टकराते । थोडी देर इस तरह करने के बाद द्रुत ताल के साथ हम उल्टे पैरों चलते हुए वापिस अपनी पहले वाली लकीर पर चले आते । इसी समय विलंबित लय में गीत शुरू होता और हम अपने पैरों तथा डांडियों से उसके अनुसार ताल देने लगते । बालकों को इसमें बहुत आनंद आता । डांडिये बजाने, उछलते-कूदते हुए चलने तथा साथ-साथ गीत सुनने-बोलने में बालकों को इतना आनंद आता कि ताल देने का शिक्षण बहुत आसान हो जाता । परिणाम-स्वरूप बालक बातें करते, हँसते, इधर-उधर टेढ़े-मेढ़े देखते हुए भी ताल तो बराबर सही-सहीदेते ।

उस समय के हमारे प्रिय गीतों में 'नथ घड़ दे सोनारा', 'शाने लीधा मारा श्याम' तथा 'पीर छे पीर छे' गीत मुख्य थे । चुन्नीभाई न तो नए गीत लाते थे, न ही किसी को यह पता लगने देते थे कि वे आगे चलकर बालमंदिर में नए प्रयाण गीत और नई-नई तर्जे शुरू करने वाले हैं । वे तो जितना गाना-बजाना जरूरी होता उतना ही गाते-बजाते और जितना कहा जाता, उतना ही सिखाते । संगीत में निष्णात बना मैं राग-रागिणियों को नापास करते हुए लोकगीतों को ढूँढकर लाता और उनकी ताल में बालकों को अवगाहन कराता । जब ये ताल की क्रीडाएँ चलतीं, तब नन्हें बच्चे एक तख्ते पर बैठे-बैठे अक्सर कोई न कोई ताल बजाते या फिर उन्हें पता लग जाता कि अमुक ताल बज रही है, तो वे लकड़ी के टुकड़ों से उस ताल का अनुसरण करते । इस तरह बच्चे वहाँ बैठे-बैठे बिना सिखाए ही ताल सीखते थे । आजकल जिस प्रकार के डांडिया नृत्य चल रहे हैं, उस तरह के नृत्यों की तब कल्पना भी स्पष्ट नहीं थी, लेकिन हमारे प्रयोग उसी दिशा में आगे बढ़ रहे थे ।

यहाँ दो-एक बातों का उल्लेख करना जरूरी है ।

चाहे संगीत हो, चित्रकला हो, ध्यान की प्रवृत्ति हो, चाहे साबुन से हाथ धुलवाने की बात हो, जिस तरह का ज्ञान हम बालकों को देना चाहते हैं, उसका समग्र स्वरूप पहले हमें यथार्थ में समझ लेना चाहिए और तब उस समग्र स्वरूप को उसके भिन्न-भिन्न उप स्वरूपों में क्रमशः विभक्त कर लेना चाहिए । इन क्रमिक विभागों को ही हमें एक-एक करके बालकों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए । उदाहरण के लिए बालकों को डांडिया नृत्य सिखाने से पहले उन्हें डांडिये पकड़ने, उनसे ताल देने, पैरों से ताल देने, डांडियों और पैरों दोनों से एक साथ ताल देने,

डांडिये और पैरों से ताल देते-देते शरीर का झुकाने, उपर्युक्त तीनों क्रियाओं के साथ आगे चलने, इन क्रियाओं में निपुण हो जाने पर इनके साथ-साथ दोनों तरफ के साथियों को ताल देने, स्थान बदल कर आगे चलने आदि-आदि कितनी ही क्रियाएँ सिद्ध हो जानी चाहिए । यह ज्ञान एक दिन में डांडिया नृत्य बताने से अथवा डांडिया नृत्य कराने के दायित्व से अथवा पदार्थ-पाठ देने से अथवा इसमें होने वाली त्रुटियाँ न करने के उपदेश से अथवा धमकी देने से आने वाला नहीं है । डांडिया नृत्य की सातवीं मंजिल तक पहुँचने से पूर्व बालकों को पहली मंजिल की पहली सीढ़ी से क्रमशः ऊपर चढ़ना पड़ेगा । प्रत्येक चरण सिद्ध होगा तभी अगले चरण पर खड़े रहने की शक्ति प्राप्त की जा सकेगी । अतएव एक सम्पूर्ण क्रिया, जिसका ज्ञान हम बालक को देना चाहते हैं, उसके जितने भी विभाग किए जा सकते हैं, करके प्रत्येक विभाग का ज्ञान बालक को क्रमशः ध्यान से देना होगा । इसमें दोनों बातें हैं—स्वाभाविकता भी और सरलता भी ।

डांडिया रास के ऊपर वर्णित शिक्षण में इस सिद्धांत के मर्म को देखा जा सकता है । प्रत्येक क्रिया में कितने विभाग होने चाहिए, यह तलाश करना मुश्किल काम है, पर है अनिवार्य । शिक्षण में जो कठिनता और नीरसता दिखती है उसका एक कारण यह भी है कि सामान्यतया विषय को पृथक्करण पद्धति द्वारा सिखाया जाता है लेकिन इसके बजाय समग्र विषय को पृथक-पृथक विद्यार्थियों के समक्ष अनुक्रम से प्रस्तुत किया जाए और अंत में समग्र विषय का संयुक्त रूप से दर्शन कराया जाए तो शिक्षण का काम आसान और प्रभावी बन जाता है ।

नृत्य

नृत्यकला एक ललित कला है । जब से यह कला वारांगनाओं के हाथ लगी है तभी से शिष्ट समाज ने इसकी अवमानना ही की है, यही नहीं, इसे तिरस्कार भरी नजरों से ही देखा है । वारांगनाओं के प्रति समाज की तिरस्कार-बुद्धि की तीव्रता के कारण नृत्यकला जैसी सुंदर कला को पतित बनना पड़ा, यह चिंता का विषय है । नृत्यकला तो संसार की प्राचीनतम कला है । मैंने अपनी आँखों से अफ्रीका के आदिवासियों को नृत्य करते देखा है । यूरोप की नृत्यकला सुप्रसिद्ध है । आज तो मैडम पावलोवा ने अपनी अभिनय कला से सम्पूर्ण विश्व को चकित कर दिया है । (यहां हमारे देश के उदयशंकर का नाम भी लिया जा सकता है ।)

डाल्क्रोज ने अभिनय कला का एक नया शास्त्र रचकर अपनी नई पाठशाला खोली है।

धरती पर जन्म लेने वाला आदमी तो नाचता ही आया है। इन्द्र की सभा में रंभा के द्वारा प्रस्तुत किया गया नृत्य अपूर्व माना जाता है। शंकर का तांडव नृत्य पुराण-प्रसिद्ध है। वही नृत्यकला आज भारत की वारांगनाओं और देवदासियों के हाथ में है, फलतः नाच, नृत्य एवं अभिनय को शिष्ट रंगमंचों पर पर्याप्त आदर नहीं दिया जाता। इसके बावजूद नृत्य को बालमंदिर में स्थान मिला है। यह इतिहास जानने योग्य है।

उन दिनों के संगीत कार्यक्रम बहुत साधारण होते थे। उनमें डांडिया रास, वर्तुल का डांडिया रास, लकीर के ऊपर का डांडिया रास, लकड़ी के टुकड़ों से टपाटप ताल देना तथा सितार वाद्य को सम्मिलित किया जा सकता है। बालक उस कार्यक्रम को इतना आनंद लेकर देखते थे कि उनमें से अधिकांश बच्चे संगीत में उपस्थित रहते थे। लगभग सभी बालक 'मोरली' का नाच सुनने तो आते ही थे।

एक बार श्री चुन्नीभाई सितार पर 'मोरली' बजा रहे थे। उनकी एकाग्रता तथा शांति में मुझे एक खयाल आया। मुझे लगा कि जिस तरह से डांडिया रास तथा 'नथ घड़ दे सोनारा' आदि के साथ पैर उठाकर चक्कर लगाए जाते हैं, वैसे ही 'मोरली' की ताल के साथ भी उछला-कूदा जा सकता है। इस विचार के साथ ही मेरे पैरों मे गति आ गई और कूदने लगा। सभी बालक मेरी तरफ देखने लगे। मैं बोलाः 'आओ नाचें।' कोई भी नहीं उठा। उस दिन तो मैंने अकेले ही नाच किया, पर अगले दिन एकाध बालक ने साथ दिया और पंद्रह दिनों में तो सब बालक नाचने लग गए। इस तरह इस नृत्य का नाम 'मोरली का नाच' पड़ा। बाद में तो मुझे तरह-तरह के नृत्य ईजाद करने में कोई देर नहीं लगी। डांडिया रास के गीत नाच में काम आ गए और 'नथ धड़ दे का नाच' 'शाने लीधे का नाच', 'पीर छे का नाच' प्रकाश में आए। इनमें से 'पीर छे' का नाच सबको पसंद आया। मैं और अंबु बहन जोड़ीदार बनकर बहुत नाचे। आखिरकार बालकों ने नृत्य की अलग-अलग रीति को समझ लिया। पल भर में दो-दो बालक नाचते, पल भर में तीन-तीन; क्षण भर में चार-चार हो जाते तो क्षण भर में सब मिल कर एक घेरा बना लेते और बीच में शांति बहन घाघरे को घेरदार बनाती हुई यों नाचने लगतीं

जैसे छतरी वाला मोर नाचता है। लड़के भी नाचते और लड़कियाँ भी, पर भगवान लाल कभी नाचे हों, ऐसा स्मरण नहीं आता। मोर की पांखें लेकर नाचते पथुभा को भला भुलाया जा सकता है कभी! नाचते-नाचते उनका मुँह लाल सुर्ख हो जाता है, साँस फूल जाती है, और बाजा बंद हो जाता है तब भी उनका नाच चलता ही रहता है। उन दिनों डांडिया रास का जोर बहुत था।

नाच यों शुरू होता था। पहले-पहल श्री चुन्नीलाल भाई के पास सब लोग बैठ जाते और वे नाच का गीत गवाते। मैं जैसे-जैसे किसी बालक के सिर पर उंगली या छड़ी लगाता जाता वैसे-वैसे बालक उठकर नाचने लगते। नाच की जमावट के लिए उन्हीं दिनों हमने मंजूरे और खंजड़ी को शामिल किया था। बाजा, तबले, मंजीरे और खंजड़ी की मिश्रित ताल-ध्वनियाँ बालकों को मस्त कर देतीं और वे सुधबुध भूलकर नाचने लग जाते। आज हर सत्र, हर महीने, हर पखवाड़े नाच के अलग-अलग स्वरूप विकसित होते जा रहे हैं। इसका कारण है कुछ तो बालकों का समस्त मंडल, गानों के प्रकार और गीत-संचालकों के चारों ओर विद्यमान अलग-अलग आदर्श एवं प्रयोग। बढ़ाते-बढ़ाते हमने नृत्य के इतिहास में 'विहाग का नाच' और 'बड़े नाच' को शामिल किया और 'पीर छे' के नाच को विश्राम-नृत्य बनाया। बालक 'विहाग नाच' नाच रहे होते कि तभी 'पीर छे' नाच शुरू होता और सब बच्चे सो जाते, आराम करते। फिर ज्योंही 'विहाग नाच' शुरू होता कि सब खड़े हो जाते। ताल की परीक्षा के लिए 'पीर छे' नाच बड़ा उपयोगी है।

यहाँ मुझे अपनी प्रशंसा करना जरूरी लगता है। नृत्य नई चीज थी। मेरा नाचना बालकों को पहले-पहल हास्यास्पद नहीं तो विचित्र अवश्य लगा होगा। पर मेरी श्रद्धा और विश्वास अक्षय थे। लगता था कि ज्योति जलाने के लिए पहले हमें ही जलना होगा। शुरू-शुरू में तो लोग उपहास ही करते हैं, पर लोकलज्जा मान-अपमान, बड़े-छोटे की तमाम भावनाओं को ताक पर रखकर यदि हम अपने प्रयोजन से जुड़े रहें और उसे प्राप्त करने की चेष्टा करें तो कोई अनमोल तत्त्व प्राप्त हुए बिना नहीं रहता। अतः आजकल मैं बालकों के साथ नहीं नाचता पर उन दिनों नृत्य को प्रतिष्ठा देने की जरूरत थी, अतएव मैं नाचता था। बड़े बड़े लोग मिलने आते और चले जाते, श्रद्धेय लोग हाजिर होते, बालकों के माता-पिता बाल मंदिर देखने आते, पर मैं तो बालकों के साथ नाचता ही रहता। मैं नाचता और नचाता। नचाने के लिए नाचना ही पड़ता है।

प्रयाण

अब मैं आपको प्रयाण का इतिहास बताता हूँ। मोंटेसरी पद्धति में 'मार्चिंग' सम्मिलित था, यह मैंने पढ़ रखा था। पर मार्चिंग कराया कैसे जाए, यह कोई नहीं जानता था। मुझे अंग्रेजी आती थी, पर संगीत नहीं आता था। चुन्नीभाई को संगीत आता था, पर अंग्रेजी नहीं आती थी। ऐसे में मोंटेसरी की मदद कैसे मिले? सोचते-सोचते मैंने एक मार्चिंग ढूँढ निकाला। मार्चिंग के पीछे सिद्धांत तो ताल का ही था अतः उसके अनुकूल कोई कविता ढूँढनी थी। पहली कविता थी 'भाई, शाला पढ़ने चलो।' मैंने बालकों को एक लकीर पर खड़ा रखा और आगेपीछे करके उनको पैर उठाना सिखाया। इस प्रकार ताल के एक अन्य स्वरूप अर्थात् प्रयाण-क्रीड़ा की शुरुआत हुई।

एक रोज चुन्नीभाई शंकराभरण राग गा रहे थे। मुझे वह राग प्रयाण के लिए उपादेय प्रतीत हुई, चुन्नीभाई ने मेरी मंशा समझ ली और परिणाम स्वरूप शंकराभरण प्रयाण तैयार हुई। उसके बाद बनी भोगीलाल कूच। तदुपरांत तो इटालियन, अफगान, शास्त्रीजी आदि एक-एक करके अनेक प्रयाण-गीत-नृत्य तैयार हुए। डांडिया रास के लिए लम्ब-गोल की खोज मोंटेसरी की पुस्तक से हाथ लगी थी। उसी पर मार्चिंग का नाम रखा गया। धीमे-धीमे डांडिया नृत्य वाले डंडों को प्रयाण के समय बंदूक या तलवार की भाँति उपयोग में लाया जाने लगा। प्रयाण वस्तुतः ताल का ही एक रूप है अतः ताल के बारे में तो विशेष कहने जैसी बात है नहीं, हाँ, प्रयाण में संभागियों की सामूहिक क्रिया को दिनों-दिन बढ़ाया जा सकता है। शंकराभरण आदि प्रयाण स र ग म के बोलों में है अतः वह 'भोगीलाल-प्रयाण' की तुलना में कम आकर्षक है। 'भोगीलाल प्रयाण' के गीत के बोलों को बालक समझते थे, अतएव उनमें अधिक उत्साह का संचार होता था, यह स्वाभाविक ही है। भावपूर्ण गीत कितने असरदायी होते हैं, इस बात का ज्ञान किन्हीं सन्दर्भों में सहज उपलब्ध हो जाता है। जब भी कभी हम लोग सफर पर निकलते हैं तब 'चलो सब मिलकर रण मैदान' वाला गीत स्वतः बालकों के मुँह से निकल पड़ता है।

गीत

अब गीतों की बात करें। स र ग म से शुरू करके श्री चुन्नीभाई ने बालकों में स्वर ज्ञान विकसित करने की कोशिशें करके देख ली। अपनी त्रुटियों को पकड़ने

और सुधार पाने की बात स्वतंत्र बालकों को पसंद नहीं थी। सरगम के सीधे शिक्षण में तो गलतियाँ निकालनी पड़ती हैं, उन्हें टोकना पड़ता है और ऐसा करने पर बालक वहाँ से उठकर जाने लगे। ऐसे में व्यक्तिगत सरगम सिखाने की पद्धति को छोड़ देना पड़ा। जहाँ संगीत अनिवार्य न हो, वहाँ ऐसा ही करना पड़ेगा। अंत में हमें नई योजना बनानी पड़ी। इसे मैं 'गान-श्रवण पद्धति' नाम देता हूँ। इस तरह से हम लोग इस पद्धति पर आए।

चुन्नीभाई बोले : 'बालक ताल दे सकते हैं, नाच सकते हैं, डांडिया रास भी कर सकते हैं। अगर वे कुछ गाने भी लगें तो उत्तम रहे। मैंने कहा : 'बालकों को गवा कर संगीत नहीं सिखाया जा सकेगा। और सरगम पद्धित से चलना तो उन्हें कत्तई अच्छा नहीं लगता। अच्छा तो यह रहेगा कि हम उनको अच्छे-अच्छे गीत सुनवाएँ और उनमें सुनने का शौक पैदा करें, तभी वे धीमे-धीमे गाने भी लगेंगे।'

चुन्नीभाई ने 'सुंदर शिव मंगल' नामक गीत (राग झिंझोटी) पसंद किया। कुछ दिनों तक उन्होंने रस ले लेकर यह गीत गाया। कुछ दिनों बाद बालक इस गीत को गुँजाने लगे और एक दिन वह आया कि जब सतीशचंद्र, कुलीनचंद्र, कुसुम, लीलू, कांतिलाल, विद्या, इन्दुमती, अंबु, और बचु आदि सब बालक श्री चुन्नीभाई के संग गाने लग गए। गायन-श्रवण के परिणाम स्वरूप यह सहगान प्रकाश में आया। गायन-श्रवण में अत्यंत आनंद आने लगा। जब तक बालक थक नहीं जाते, तब तक ही गायन चलता रहता। आगे चलकर हमने अनेक प्रकार की चीजें पसंद की, जिनमें शुद्ध ठाठ के गीत, शुद्ध राग और अन्य चीजें थीं। इनकी पसंदगी में हमारा ध्यान शब्द और भाव पर कम रहा था। मूलतः जिन चीजों को बालक पसंद कर लें ऐसी भावमयी रचनाओं का अभाव था। फिर श्री चुन्नीभाई के पास ज्यादातर अशुद्ध हिन्दी गीत ही थे। हम दोनों ने बहुत माथापच्ची की, पर बालकों के लायक, बालकोचित शब्दों एवं भावों वाली चीजें नहीं ढूँढ पाए। ऐसे में हमने उन रागों की रचनाएँ चलने दी, जिनको बालक पसंद करते गए। जैसे-जैसे राग-रागनियाँ बढ़ने लगीं, वैसे-वैसे हम उनके नाम श्यामपट्ट पर लिखते गए—इस मंशा से कि बालक राग के नाम के साथ गायन के शब्दों को जोड़ सकें।

रागों के नाम लिखे जाने से बालक शब्दों को रागों के साथ कुछ हद तक जोड़ने लग गए। वे जानने लगे कि वे क्या चीज गा रहे थे। उनको जो राग गानी

होती उसका नाम लेकर वे श्री चुन्नीभाई से गवा सकते थे। इस तरह हमारे दिमाग में यह विचार उद्‌भूत हुआ कि अब रोजाना श्यामपट्ट पर संगीत कार्यक्रम की विगत लिखी जानी चाहिए। दो-एक बालक कहीं अन्यत्र कोई परिचित राग गाई जा रही हो तो उसे डरते-डरते पकड़ सकते थे। कुलीनचंद्र ने तो एक राग का स्वरूप पकड़ कर एक प्रयाण धुन की रचना कर डाली। उसे उसने एक गीत के साथ गाकर बताया। उस बालक ने किसी राग में जैसे-तैसे ठसाकर एकाध गीत की भी रचना की थी। कुछ धुनों ने बालकों के हृदय को बहुत आंदोलित किया था। कुछ अलाप उन्होंने अपने मन में भलीभाँति ग्रहण करके पक्के कर लिये थे। रागों की बजाय धुनें (तर्जे) उनको ज्यादा पसंद रही हैं। तर्जों में रागों का ऐसा आकर्षक आरोह-अवरोह रहता है कि बालकों को उसके साथ दौड़ना आसान लगता है। कई धुनों को बच्चे महीनों तक गाते रहते थे, थकते भी नहीं थे। श्री चुन्नीभाई की संगीत की नदी निरंतर बहती रहती। कभी तो उसका रस लेने के लिए एक भी आदमी नहीं आता था और कभी-कभी उसके तट पर श्रोताओं की भीड़ लग जाती। कोई अन्य आकर्षक प्रवृत्ति नहीं होती और श्री चुन्नीभाई लहर में होते तो संगीत का बड़ा ही आनंद आता। कुसुम एक ऐसी बालिका है जिसे संगीत सुनने का कम समय मिला है। उसकी रस वृत्ति को पोषित करने वाली कोई अन्य प्रवृत्ति नहीं होती तो वह संगीत कक्ष में ही रहना चाहती है। कुलीनचंद्र और सतीशचन्द्र भी कुसुम की बिरादरी के हैं।

अगर बालकों का जाना-आना बंद हो जाता और उनमें स्थिरता आ गई होती तो संगीत की और भी प्रगति हो जाती। कई बार रस लेने वाले पाँच आदमी ही सारे वातावरण को आंदोलित कर डालते हैं। द्वारिका, लीला और विजु—ये तीन बच्चे जब तक बंबई नहीं गए थे, तब तक गायन-श्रवण, गीत और डांडिया रास की झमाझम चलती ही रहती थी। वढवाण वाले श्री वजुभाई जब तक थे तब तक लोकगीतों का दबाव बहुत अधिक था। कभी-कभी एकाध नया गीत ही पूरे वातावरण को हिला देता है। 'वहालुं मारुं बालमंदिरियुं, 'अजल ने दिल बेरहम', 'होका नुं गीत', तथा 'जशमा नो रासड़ो'—इन तमाम गीतों को बालकों ने अजीर्ण होने की हद तक ठसा-ठसा कर भरा है। कभी-कभार स्थल-महिमा याकि व्यक्ति-महिमा भी संगीत की प्रेरक बन जाती है।

गान-श्रवण से बालकों में समूहगीत की प्रवृत्ति पैदा हुई। कुछ बालकों में समूह गान का स्वर-मिश्रण इतना मजेदार होता है कि संगीत के शानदार वातावरण

की सृष्टि होती है। कभी-कभी बेसुरी आवाजें समूह गान का मजा बिगाड़ भी देती हैं। हरि और मनहर को भले ही गाने का अत्यधिक शौक हो, पर भगवान ने इन्हें गला नहीं दिया। इसके लिए किसके सामने जाकर शिकायत करें। ये बच्चे गायन के लिए प्रयत्न करते हैं अतः इनमें गायन का शौक तो है ही। भगवानलाल और मूलजी ताल के साथ युद्ध लड़ने का स्वांग भरते हैं या कि डांडिया रास रचाते हैं, इससे जाहिर है कि वे लोग संगीत विमुख नहीं है। गायन में ही संगीत और संगीत शिक्षण की परिसमाप्ति नहीं हो जाती। कुछ गा सकते हैं, कुछ बजा सकते हैं, कुछ कद्र कर सकते हैं, तो कुछ रस ले सकते हैं। ये सब के सब संगीत के सच्चे उपासक तो हैं ही। संगीत से दूर भागने वालों को पट्टी बाँध कर बिठा दें तो संगीत में निद्राधीन हो जाने वाले रमणलाल और शांतिलाल की भी संगीत के मंदिर में कोई न कोई जगह तो होगी ही। पर किसकी जगह तबले के पास है और किसकी हारमोनियम के पास है, यह अभी तय होना है।

रासड़ा

अब हम रासड़ा पर विचार करें। रासड़ा में भी ताल की प्रमुखता है। डांडिया रास तक पहुँचे हुए बालक रास का काम कर सकते हैं। लड़कियों को रासड़ा अधिक पसंद है जबकि लड़के रासड़े के समय उठ कर चल देते हैं या फिर रासड़े के कोमल गीतों में भी लड़ाई वाले हथियार चलाते हैं। यह फर्क अच्छा तो नहीं लगता, पर सहना तो पड़ता ही है। शुरू से ही साथ-साथ पढ़ने वाले बालकों में भी बढ़ती हुई उम्र का अंतर समझ में आने लगता है, साथ ही साथ यहाँ सामाजिक संकीर्णता भी प्रतिबिम्बित होती है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्वानुगत संस्कार या उत्तराधिकार में मिले संस्कार अथवा सामाजिक वातावरण इस अंतर को किस हद तक पोषित करते हैं। फिर भी इतना तो कहना ही चाहिए कि ये बालक जब छोटे थे तब साथ ही नाचते, साथ-साथ रास रचाते और रासड़े भी रमते। लेकिन न जाने क्या बात है कि बालक रासड़े में शोभा नहीं देते। इसमें हमारे संकुचित मन का प्रतिबिम्ब ही शायद आँखों में पड़े तो असंभव नहीं है। आज इतना तो जाहिर ही है कि बालिकाओं को रासड़ा ज्यादा अच्छा लगता है। बावजूद इसके अगर हरि इसमें शामिल होना चाहे तो उसे मनाही नहीं है। 'बाल मंदिरियुं', 'जशमा', 'हां रे रथ खेड़ो' आदि रासड़े बालकों के अत्यंत प्रिय हैं।

रासड़े में अभी बहुत कुछ करने की गुंजाइश है। इसकी विविधता को तो अभी परोसा ही नहीं गया है। कृष्ण-गोपी का रास अभी भविष्य के गर्भ में है। लोकरासड़े रचने वाली कोई ग्वालिन अभी बालमंदिर में आने को है।

यह है बालमंदिर में संगीत कार्यक्रम का संक्षिप्त तथापि उल्लेखनीय इतिहास। यह एक प्रयोग है। प्रयोग की कथा में ही इसके सिद्धांतों को गूँथा गया है।

प्रयोग तो अभी जारी ही है। वैयक्तिक गायन, युद्ध, रासड़े के नए रूप, लोक गीतों का श्रवण भेटिया रास जैसे तरह-तरह के रास, जलसे आदि नई दिशाओं के बारे में लिखना तो अभी शेष ही है।

लड़ाई और रासड़ा के संदर्भ में जरा विस्तार से लिखा जा सकता है। लड़ाई कोई सचमुच की लड़ाई नहीं है। इसमें बालक ताल के साथ गीत के समय लाठियाँ आमने-सामने तालबद्ध रीति से उठाते हैं, जिस प्रकार नाटक में तलवार निकाली जाती है, वैसे ही बालक ताल पर कूदते हैं, इससे उन्हें अच्छा-खासा व्यायाम मिलता है। सादी लड़ाई भी होती है और भालों की भी। लकड़ियों को भाले समझ कर ऐसे लड़ा जाता है मानो भालों से लड़ा जा रहा हो। बाल मंदिर में इस दिशा में ठीक-ठाक काम चल रहा है। उसे वहाँ जाकर देखा जाए तो इस संबंध में अधिक स्पष्टता प्राप्त होगी।

रासड़ा मात्र कन्या शालाओं में ही चल रहा है इस समय। प्राथमिक शालाओं के बालकों को गरबे कराएँ जाएँ। अलबत्ता, उन्हें भी रासड़ा आता हो तो बुरा क्या है? पर वस्तुतः आजकल के लड़कों को शरम आती है, इसलिए वे लड़कियों के साथ रासड़े नहीं रमते। पहले से ही लड़के-लड़कियाँ अलग हैं, फिर उनको यह समझा दिया जाता है कि लड़के-लड़कियाँ साथ-साथ नहीं रमते, यही कारण है कि वे साथ-साथ रासड़ा नहीं रमते। जिन लड़कों में ऐसा भूत नहीं घुसा है वे बेशक रासड़ा रमते हैं। डांडिया रास तो दोनों तरह के लड़के रमते हैं, अर्थात् इसमें सभी शामिल होते हैं। कन्याशाला और कुमार शाला दोनों स्थलों पर डांडिया रास रचाया जाना चाहिए क्योंकि रास नृत्य का एक प्रकार होता है।

नृत्य के संबंध में यह बात जान लेनी चाहिए कि बालकों में नृत्य प्रवृत्ति स्वाभाविक है अतः ताल और गायन दोनों की योजना साथ-साथ बनाकर इसे

आयोजित किया जाना चाहिए। लड़के भी नृत्य कर सकते हैं। आजकल नृत्य के साथ बजाने के लिए अच्छे-अच्छे रेकार्ड मिल जाते हैं, उन्हें प्राथमिक विद्यालयों में भी उपलब्ध कराया जाना चाहिए। यदि माँग कर भी लाए जा सकें तो कोई बाधा नहीं। नृत्य एक उत्तम व्यायाम है, कला सर्जन है तथा प्राथमिक विद्यालय में उसका महत्वपूर्ण स्थान है।

नृत्य और नगाड़ों का गहरा संबंध है। नगाड़े बजा कर बालकों को यह ज्ञान कराया जाता है कि नृत्य में सम कहाँ आता है। बालकों को एक बार समझा दें तो वे सम पर ही ताली देते हैं। इसे सम-ताल देने की क्रीड़ा कहा जाता है। बालक इस खेल को बहुत पसंद करते हैं। प्राथमिक विद्यालय में संगीत का विषय शुरू करने से पहले शाला के प्रत्येक शिक्षक को यह बात समझ लेनी चाहिए कि वे संगीत के प्रति अत्यधिक सहानुभूति रखें तथा संगीत विषय को गणित की तुलना में अधिक महत्त्व दें। इस विषय की विस्तार से जानकारी दें तथा इसकी विशेषताएँ समझाएँ।

मनुष्य जाति में से मानवता क्षीण होती जा रही है। व्यवहार में ठंडापन और मारकाट बढ़ने लगी है। जीवन में कलह और कटुता बढ़ रही है, आदमी थक गया है। संसार नीरस लगने लगा है। ऐसे समय में प्राचीन इतिहास या ऐसे शिक्षण से ऊब-उकताहट घटने के बजाय बढ़ जाती है। संगीत शिक्षण और इसके अनुशीलन से जीवन में ठहराव लाने में कुछ मदद अवश्य मिले तो मिले। अतः संगीत का अनुशीलन प्रारंभ से ही किया जाना अभीष्ट है।

: 4 :

इधर कुछेक अर्से से विद्यालयों में लोकगीतों की उपस्थिति दिखाई देने लगी है। बाल मंदिरों में 'शाने लीधे मारा श्याम, अबोलड़ा शाने लीधा रे, 'नथ घड़ी दे सोनारा रे, मारी नथ घड़ी दे सोनारा' जैसे भवाई प्रतिष्ठित गीतों से लेकर कछुवा-कछुवी, चेलैया तथा अन्य भक्ति प्रधान भजनों तक विविध गीत सुनने में आतेहैं।

'अरे, ऐसे गीत तो दुनिया गाती है, मामूली लोग गाते हैं, भला ब्राह्मण-बनिये ऐसे गीत कहाँ गाते हैं! गीतों की क्या कमी है, जो ये गीत गवाए जाएँ?' इस प्रकार की आलोचना के स्वर एक बाल मंदिर में सुनाई देते, तो दूसरी

ओर ये लोकगीत स्वतंत्रता से गाये जाने की छूट मिल जाती, यही नहीं इन गीतों के गाने से इनकी प्रतिष्ठा भी बढ़ी। बाल मंदिर के बालक इन गीतों को घरों में गाने लगे तो उनकी माताओं को अपनी बाल्यावस्था के गीत सुनाई देने लगे। वे भी इन गीतों को भूलने का असफल प्रयत्न करके इन्हें फिर से गाने लगी। लोकगीतों के प्राचीन संग्रहों के प्रचार को मदद मिली। कुछेक बालिका विद्यालयों में ऐसे संग्रहों के प्रति घृणा के भाव नहीं रहे। नए गीतों के साथ-साथ लोकगीत, रासड़ा, गरबी आदि को शामिल किया जाने लगा है। श्री झवेरचंद मेघाणी तो इन्हें महिला विद्यालय और महाविद्यालय तक फैलाने में लगे हुए हैं। लोकगीतों को फिर से पुनर्जीवित करने वाले तथा शिक्षा में इनकी महत्ता रेखांकित करने वाले नवरात्रि, होली अथवा अन्य अवसरों पर लोकगीत, दूहा, सोरठा आदि को आयोजित करने में आनंद महसूस करते हैं। नए पाठ्यक्रम बनाने वाले कविता के शिक्षण में लोकगीतों को न भूलने के लिए आग्रह करते हैं। नूतन दृष्टि वाले परीक्षक परीक्षा में लोकगीत गाना आता है या नहीं, ऐसा पूछते हैं। वर्तमान संगीत-शिक्षक भी लोकगीतों को सीखने में रुचि लेते दिखाई देते हैं।

इस प्रकार कहना न होगा कि आजकल शिक्षण में लोकगीत आने लगे हैं। कइयों को दलपतराम (गुजराती कवि) आदि के बाद की कविताएँ पाठ्यक्रम से हटा देने योग्य लगती है। वे लोग उनके बजाय लोकगीतों में ही कविता के शिक्षण को सम्मिलित मानते हैं। कई लोग लोकगीतों में अद्‌भुत काव्य अनुभव करते हैं। कोई कहता है कि इनमें ताल की लयकारी मजेदार है, किसी को इनमें लोक-हृदय की सरलता प्रवहमान नजर आती है, कोई इनमें फिर-फिर कर आने वाली पंक्तियों की सादगी पर मोहित है तो कोई यों कहता है कि इनमें बालोचित व बालप्रिय कथानक एवं पद-लालित्य विद्यमान है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न रीति से लोकगीतों की महत्ता बढ़ती जा रही है। इनके प्रसार के साथ कई स्थानों पर इनका पक्ष अधिक ताकतवर होता जा रहा है। किसी भी लोकगीत को विद्यालय में अथवा पुस्तक में शामिल किए जाने का भय पैदा हो गया है। शिष्ट काव्य-शिक्षण के साथ कहीं अन्याय तो नहीं हो रहा है, ऐसे प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं। अनेक प्रश्न हैं, यथा—लोकगीतों का शिक्षण में क्या स्थान है? लोकगीतों का स्थान क्यों है? इनकी मर्यादा क्या होनी चाहिए? कैसे लोकगीत चुने जाएँ? उन्हें कैसे सिखाया

जाए ?आदि-आदि।

विद्यालयों में लोकगीतों के शिक्षण का विचार ही नया है। आजकल शिक्षण का एकमात्र स्थल विद्यालयों को ही माना जाता है अतः सीखने की वस्तु को वहीं आना या लाना पड़ता है। अर्थात् लोकगीतों को भी विद्यालयों के मार्फत प्रवेश मिल सकता है। ऐसे में हमें ही यह तय करना होगा कि विद्यालय में उनका क्या स्थान है!

वस्तुतः लोकगीत लोकजीवन के तानों-बानों में गुँथी वस्तु थी और है। इनको सीखने की शाला लोकगीतों में वर्णित जीवंत जीवन ही थी और वही हो सकती है। जहाँ माता गीत गाती-गाती घट्टी फेरती हो और पालने में पलंग पर नन्हा बालक लेटा हुआ हो, वहीं लोकगीतों की शाला चलती है। आज भी गाँवों की गलियों में रासड़े गाए जाते हैं। शहरों में सेवा-टहल का काम करने वाली महिलाएँ रासड़े रमती हैं, मवेशियों को चराने वाले ग्वाले दूहे बोलते हैं, ढलती रातों में भजन गाने वाले भजन गाते हैं। इन सबके बीच बैठे बालक-वृद्ध सभी बिना सिखाये ही लोकगीतों का अभ्यास करने लगते हैं।

इस तरह वातावरण के द्वारा लोकगीतों की शिक्षा मिलती रही है। इसके अलावा अन्य रीति से भी लोकगीत सीखने की परंपरा चलती आई है। घर के चबूतरे पर दो-चार महिलाएँ बैठी-बैठी गीत गाती हैं और यह रिवाज वर्षों से चलता आया है। यह एक व्यापक और प्रामाणिक रिवाज है। बिना कोई उपहार, डॉट-डपट या इनाम दिए अनेक स्थानों पर और विशेष रूप से गाँवों में आज भी लोकगीतों का शिक्षण चल रहा है। परंतु बड़े-बड़े शहर और छोटे-छोटे गाँव लोकगीतों और उनकी प्राचीन शालाओं से दूर होते जा रहे हैं, बल्कि कहना न होगा कि दूर हो गए हैं। पैंतीस वर्ष पूर्व हम लड़के-लड़कियाँ मिलकर गलियों में घंटों-घंटों तक 'सांढणी ना सौ सौ रुपैया....सांढणी ना सौ सौ रुपैया' गाते हुए अपनी जाँघ पर ताल देते थे। वह बात तो अब महज इतिहास रह गई है। आजकल तो लड़कों को रात के समय होमवर्क के लिए रुकना पड़ता है। माता-पिता को भी पुराने खेलों में नफरत है। शहरों में उन खेलों के लिए जगह भी तो नहीं रहती। बम्बई जैसे महानगरों में तीसरी चौथी मंजिल में चालों और खोलियों में भला इनका नाम भी कैसे सुना जाए? शिक्षा सुधार और वर्तमान

शिक्षा के प्रभाव से लोकगीत, रासड़ा आदि सब कोलियों-वाघरियों आदि निम्न लोगों की चीजें मानी जाती हैं, अतः ब्राह्मण, बनिए तो इनसे भड़कते हैं। बीच के समय में 'इन्हें देखने कौन जाए? इनमें तो लड़के बेकार भटकते हैं' कुछ ऐसा ही समझा जाता था। जब हम अंग्रेजी पढ़ते थे तब घर से चुपचाप रासड़ा आदि देखने-सुनने भाग जाते थे।

जब सरकारी शिक्षा सँजोने का समय आया तब तो उसने लोगों के समक्ष कुछ ऐसी दृष्टि प्रस्तुत की कि पढ़ने वाले बालक इन चीजों से भड़कने लगे। पहली पुस्तक के नए पाठ्यक्रम में एक भी प्राचीन गीत नहीं मिलेगा। इसके लिए विशेष रूप से कविताएँ रची गई, पर लोकगीतों की अत्यंत सुंदर पंक्तियों को वहाँ रखना किसी के खयाल में नहीं आया। पढ़ाई का मतलब है, पुराना न हो—कुछ ऐसा ही लोगों को लगा होगा। नए पढ़ने वाले लोकजीवन और लोकगीतों आदि से दूर जाने लगे। वे लोग नई दुनिया में प्रतिष्ठित हो गए अतः लोकगीतों के प्रति उनका अज्ञान लोकगीतों की मूल्यवत्ता आँकने में असमर्थ ही रहा और उन लोगों ने लोकगीत से अपना संबंध गंवा दिया, यही नहीं उसे अपनी भावी पीढ़ी के लिए निरर्थक ही समझलिया।

बीच की अवधि में ऐसे पढ़े-लिखे लोग आए कि जिनके सामने 'लोकगीत क्या है' का एक प्रश्न खड़ा हो गया। ऐसे लोग आज भी मौजूद हैं। उनको पुरानी आँखों पर नया चश्मा चढ़ाने से पहले नाक-भौं सिकोड़ना पड़ता है। उन्होंने काव्य का प्राण तत्कालीन काव्य-शिक्षण से ग्रहण किया और तदनुसार ही उनके मन में काव्य की कल्पना रही। तत्कालीन कवियों में लोकगीत की छाप नहीं मिलती। उनके लिए लोक कवि प्रेमानंद आदि प्राचीन कवि थे। अर्वाचीन कवियों के हाथ में सिर्फ पिंगल का छंद रहा, उन्हें संगीत से दूर रहने की सुविधा मिली। गीत और ताल के बिना काव्यानंद प्राप्त करने की अनुकूलता मिली। इसके बावजूद नवलराम ने लोकगीत की रागों को लेकर अन्य कविताओं की बजाय 'नवल गरबावली' को अधिक पठनीय बनाया। फिर भी उनका लक्ष्य लोकगीतों की शैक्षिक उपादेयता की और जाता नहीं लगता।

लोकगीत की प्राचीन शालाएँ तो लुप्त-प्राय हैं परंतु न जाने कैसे आज लोकगीत हमारे विद्यालयों में दाखिल हो गए हैं। बालक बड़े ही उत्साह पूर्वक उन्हें गाते हैं और वे फटाफट याद भी हो जाते हैं। अध्यापकों को भी उन्हें गवाने में

आनंद आता है। कविताएँ कंठस्थ नहीं रहतीं, लोकगीत अपने आप याद रह जाते हैं। इनकी शक्ति रोकी नहीं जा सकती, बढ़ती ही जाती है।

ऐसे में लोकगीतों के शिक्षण के महत्त्व के बारे में विचार करना समीचीन लगता है, क्योंकि ऐसा नहीं करेंगे तो जिस प्रकार एक बार इनके प्रति नफरत का माहौल हमें एक दिशा में ले गया था, वैसे ही इनके प्रति अति प्रेम हमें दूसरे सिरे तक ले जाए तो कोई आश्चर्य नहीं है।

लोकगीत शिष्ट गीत की जननी है। कहना न होगा कि शिष्ट काव्य के उद्‌भव से पहले लोकगीत विद्यमान थे। लोकहृदय के साथ ही इनका जन्म हुआ है अतः शिष्ट काव्य के अध्ययन से पहले लोकगीतों का परिचय देना स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी। नन्हें बालक के प्रारंभिक पोषण में जिस प्रकार माता का दूध प्राकृतिक आहार माना जाता है, उसी प्रकार शिष्ट काव्य अथवा काव्य के अध्ययन की शक्ति के लिए लोकगीत प्रथम आहार होता है। रोचक विषय-प्रवेश में जो प्राथमिक सरलता, काठिन्यहीनता, आकर्षण, स्मरणीयता, वस्तु की पहचान आदि की अपेक्षा रहती हैं, वे तमाम की तमाम काव्यास्वाद के प्रारंभ के रूप में लोकगीत में रहती हैं। उपर्युक्त सभी गुण प्रत्येक गीत में मिल जाएंगे, यदि यों कहें तो गलत न होगा।

मारो छे मोर, मारो छे मोर।
मोती चरंतो मारो छे मोर।।
गेंडा सरजावुं सा'ब कणिया सरजावुं
रे दाण मांगे, रे दाण मांगे।
रे दाण मांगे, कानो दाण मांगे।।
कान तारी मोरलीये जी रे
गरबो घेलो कीधो।
समी सांजनी आरे मोरलड़ी क्यांरे वागी;
मधरातनी
आरे उतापण क्यांरे वागी;
माझम रातनी आरे मोरलड़ी क्यांरे वागी।

प्रकृति के सादे-सुथरे वर्णन लोकगीतों में हैं; बालोचित वस्तुसंचय इनमें है;

ऐसी ताल और लय भी इनमें है जो बालक गा-बजा सकते हैं ।

जब बालकों को लोकगीत सुनाए जाते हैं तो वे उन्हें तत्काल पकड़ लेते हैं । कविता अथवा अन्य गीतों के साथ उनकी यही ग्रहणशीलता होनी मुश्किल बात है । बेताला बालक भी लोकगीत की ताल को पकड़ लेता है । लोक गीतों के रासड़े गाते-गाते वे थकते नहीं । उनकी लय व ताल उन्हें आमंत्रित करती है । वे तान में मस्त होकर मानो झूले की भाँति चक्कर खाने लगते हैं । हृदय उल्लसित हो जाता है, पैर धमाधम करने लगते हैं, हाथ नाचने लगते हैं और पूरा का पूरा शरीर हिलोर के मारे हिचकोले खाने लगता है । गाने के जोश में चढ़ी लड़कियाँ 'फिर से गवाएँ, फिर से गवाएँ, अभी और, अभी और' का आनंद लूटने लगती हैं । यदि लोकगीतों के लिए समय विभाजन-चक्र तय किया जाए तो उसमें अनिवार्यतः भंग पड़ेगाही ।

लोकगीतों की पंक्तियाँ बालकों को अपने आप याद रहती हैं । घर लौटने पर भी वे लोकगीत गुनगुनाते हैं । शाला में चित्रकारी करते समय अथवा कोई और काम करते समय लोकगीतों की पंक्तियाँ हृदय से स्वतः निकल कर जबान पर चढ़ जातीहैं ।

पुरानी पंक्तियों की शक्ति मंत्रमुग्ध कर देती है । गायक उनमें डूब जाता है । वह काव्य के मर्म का आस्वादन करने लगता है । लोक गीतों के रसिक बालक लोकगीतों के मर्म को पकड़ कर मनोविनोद में वैसी ही नई-नई पंक्तियों की रचना करने लगते हैं । गुजराती कवि न्हानालाल के रासों को लोकगीतों से परिचित बालक अधिक तन्मयता एवं भाव से सुनते हैं, उन्हें जल्दी समझते हैं और उनके अर्थ भी कुछ-कुछ ग्रहण करने लगते हैं । लोकगीतों से परिचय हो जाने के कारण ही नवलराम द्वारा रचित गरबियाँ भी अर्थगम्य व बोधगम्य देखने में आई हैं, जबकि इसी उम्र के बालकों के समक्ष अन्य कवियों की कविताएँ प्रस्तुत करने में जो कठिनाई आती है, वह शिक्षक ही जानता है । बालक 'मारे घरे आवजो मावा, भावे तो कोदरा खावा' अथवा 'नहिं जाऊं रे, नहिं जाऊँ रे, गावलड़ी चारवाने जशोदा मावड़ी' जैसी पंक्तियों को तत्काल मान देते हैं । इसके बजाय 'जो पेली बकरी नुं बच्चुं' अथवा 'पाणीना टीपां' अथवा 'बांदरी' अथवा 'ओ ईश्वर' अथवा 'अहो नाथ ऊभा अमे' आदि कविताएँ सुनकर वे भागने की सोचते हैं, रवाना हो जाते हैं,

उबासियाँ लेने लगते हैं, झपकियाँ लेने लगते हैं या फिर दूसरों से छेड़छाड़ करते हैं अथवा भीतर ही भीतर दुखी होते हैं ।

कविताओं का आनंद बालक थोड़ी बड़ी उम्र में ही ले सकते हैं । निश्चय ही समाज के विकास में काव्य की भूमिका उद्‌गम की भाँति महत्त्वपूर्ण मानी जाती है, पर छोटी उम्र में जहाँ काव्य का परिचय करा पाना कठिन और नीरस प्रतीत होता है वहीं इस वय में लोकगीत का साम्राज्य अपने आप स्थापित हो जाता है । यह बात स्वीकार योग्य लगती है, इसलिए प्राथमिक शाला के काव्य-शिक्षण में लोकगीत-परिचय का प्रथम स्थान स्वयं बन जाता है ।

लोकगीत को काव्य-शिक्षण में प्रथम स्थान देने का अर्थ यह नहीं है कि इसे पाठ्यक्रम व परीक्षा की बेड़ियों में जकड़ दिया जाए अथवा रटंत-विद्या के हथोड़े से पीट-पीट कर नीरस बना दिया जाए । इसे परीक्षक अथवा साहब लोगों के सामने सुनाने का आभूषण बनाने की भी जरूरत नहीं है । शिक्षण सिर्फ स्व-विकास के निमित्त होता है । लोकगीत भी स्व-विकास के निमित्त है ।

विकास चाहने वाले लोगों को चाहिए कि वे विकास को संभव बनाने योग्य परिस्थिति निर्मित करें, विघ्नों को दूर करें तथा वस्तु और विधेय का परिचय कराएँ । लोकगीतों के परिचय में ऐसा न हो अन्यथा अपरिचित रह जाने तथा पिछड़ जाने की आशंका बनी रहेगी, अतः लोकगीत कैसे सिखाए जाएँ, यह विचार करना आवश्यक है ।

लोकगीतों के बालोपयोगी संग्रह अवश्य तैयार किए जाए । ऐसा एक भी सर्वांग सुंदर संग्रह अभी तक (अर्थात् सन् 1927 तक) तैयार नहीं है । ऐसा एक बड़ा संग्रह शिक्षकों के लिए भी तैयार होना चाहिए ताकि वे बालकों के लिए, उनके मानसिक स्तरानुरूप लोकगीत चुनें तथा गवाएँ । गीतों के चयन में ताल, गति एवं वस्तु तीनों को ध्यान में रखा जाए । ताल सीधी सादी और गति धीमी, उछलती, आंदोलित कर देने जैसी होनी चाहिए ।

छलकातुं आवे बेडलुं
मलपती आवे नार रे,
मारीं साहेलीनुं बेडलुं ।
अड़वड़ दड़वड़ नगारां वागे,

हर हर गोमती गाजे रे
बंगला फक्कड़ बनाया ।

इन गीतों से भिन्न प्रकार के गीत बालकों के लिए कठिन होते हैं । उनकी लय विलंबित, लंबी, रसीली होने के कारण बालक इन्हें आसानी से पकड़ नहीं पाते । फिर श्रावण मास के रासड़ों की लय एवं ताल में भी अंतर आता है, जैसे

एक ताल : वन मां बोले झीणा मोर
कोयल राणी किलोल करे रे लोल । ।

तीन ताल : कान तारी मोरली अे जीरे
गरबो घेलो कीधो ।

खड़ी ताल : लीबड़ा सूना रे हनुभाई
तमविना ।

रोजमर्रा के अवलोकन तथा अनुभव से लोकगीत के वस्तुपक्ष को लेकर बालकों के प्रति अत्यधिक चिकनापन रखने की जरूरत नहीं । उस उम्र में बालकों के समक्ष गीतों के वस्तु-पक्ष की बजाय संगीत तथा ताल अधिक महत्व रखते हैं । बेशक गीतों के शब्द बालकों को आकृष्ट करते हैं, पर वे उनके अर्थ पर ध्यान नहीं देते । उनका बालमन शब्दग्राही अधिक होता है, अर्थ-शोधक अवस्था बाद में आती है । बाल लोकगीत ध्वनि-प्रधान, ताल-सरल, स्वर-मधुर, हलकदार, चटकशब्द और अर्थ सुगम होने चाहिए ।

यह सही है कि बालगीतों में अर्थ पर अधिक ध्यान देना जरूरी नहीं है, फिर भी इतना तो गौर करना ही चाहिए कि वे अनर्थकारी न हों । पुराने लोगों के हँसी-मजाक से युक्त गीतों को विनोद अथवा बालकों के कौतुक की संतुष्टि के लिए चुना जा सकता है । ऐसे गीतों का वर्तमान जीवन से संबंध भले ही न हो, मनोविनोद के लिए ही सही, इन्हें चुना जा सकता है । गीतों के चयन के उपरांत उन्हें गाने और उनको उपयोग में लाने के बारे में सोचा जाना चाहिए ।

लोकगीतों का जितना परिचय प्राप्त किया जाए, कम है । वे अपने आप याद होते हैं । हमारी यही इच्छा रहनी चाहिए कि लोकगीत बालकों के समक्ष लाए जाएँ । दो-चार गीतों से हमें संतोष नहीं कर लेना चाहिए । लोकगीतों से परिचित

कराने का प्रयोजन है संस्कार जगाना, छाप अंकित करना । अतः परिचय की वस्तु को मर्यादित न रखा जाए । दो, पाँच, दस, बीस गीत वर्ष के अंत तक गवाने से कक्षा और वस्तु तो निश्चित की जा सकती है, पर उससे बालक को शक्ति-सामर्थ्य-क्षमता प्राप्त नहीं होती । मुख्य चीज है गीतों के प्रति बालक का प्रेम तथा काव्य के प्रति आनंद जगाने की क्षमता । इसके लिए संख्या की मर्यादा रखना बंधन स्वरूप है, ऐसा नहीं किया जाना चाहिए । वर्ष के अंत तक जितने भी गीत गवाए जाएँ वे आनंद से गवाए जाएँ । उनसे बालकों को रस आना चाहिए । गाते-गाते वे उनमें आंदोलित हो जाएँ और अपने-आप शौक से गाएँ ।

बालक शिक्षक के सामने बैठे और शिक्षक उन्हें लोकगीत गाकर सुनाए । सुनाने के काम में न तो अनिवार्यता आनी चाहिए, न कृत्रिमता । इसके लिए शिक्षक से यह अपेक्षा है कि वह लोकगीतों का रसिक हो । उसके गाने की रीति मधुर, चटकदार और प्रभावपूर्ण होनी चाहिए । अगर गला सुरीला हो, पर गाने का लहजा न हो तो गीत फीका लगने लगता है । बच्चों के नन्हें उल्लसित हृदय उल्लास को तत्काल ग्रहण करते हैं । शांत और गंभीर प्रवाहों को ग्रहण करना बड़ों का काम है । जब गायक का हृदय उछलता है, रासड़े लेते समय हाथ टपटप नहीं बल्कि तड़ाक्-तड़ाक् तालियाँ पीटते हैं, पैर मात्र हिलते नहीं बल्कि धमाधम उठते हैं, शरीर सिर्फ झुकता नहीं बल्कि झूलने लगता है तो सच मानें बालक भी उन गीतों की लय-ताल में पूरी तरह से अवगाहन करने लगते हैं । गीत परिचय में प्रथम पद श्रुत गान है अर्थात् शिक्षक मधुरता से गाए और बालक सुनें । दूसरा पद सहगान है अर्थात् शिक्षक गाए और बालक देखादेखी गाएँ । टेर उठाने में ध्यान रखना जरूरी है । अगर आपने लंबी पंक्ति ले ली, तो उसे उसी ढंग से गाने में बालकों के सामने परेशानी आनी संभव है । इसके बजाय गीत की एक पंक्ति के छोटे-छोटे टुकड़े कर देना चाहिए । पहले छोटे-छोटे टुकड़े ही गवाने चाहिए और जब उन्हें गाने की शक्ति आ जाए तो फिर पूरी पंक्ति गाने में परेशानी नहीं होती । सहगान में पूरा गीत गवाने का आग्रह भी नहीं रखना चाहिए । बालकों के सामने गीत पूरा गाएँ या आधा, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है, उन्हें लय, ताल व शब्द संगीत का परिचय होना महत्त्वपूर्ण है ।

लोकगीत अपने आप में बड़ा ही आसान होता है। उसमें बार-बार पहली पंक्ति का पुनरावर्तन होता है, फिर भी गीत की दो-चार पंक्तियाँ गाकर शुरू-शुरू में रुक जाना चाहिए और उन्हीं पंक्तियों को इतनी तन्मयता से गवाएँ कि बच्चे गाते-गाते मस्त हो जाएँ। सहगान में जोर-जोर से गाना और बालकों से भी जोर-जोर से गवाना या तालियाँ बजाते हुए गाना-गवाना कतई गैर-जरूरी है। संगीत शांति का विषय है। शांति में ही इसका आनंद आता है, यह स्वभाव से शांतिप्रिय और प्रेरक होता है। अतः सहगान का सम्पूर्ण वातावरण अत्यंत कोमल व शांत होना चाहिए। गायन धीमा होते हुए भी जोरदार हो सकता है, तालयुक्त होते हुए भी बिना शोर-शराबा किए प्रस्तुत किया जा सकता है।

श्रुतगान या सहगान के समय बालकों को सुनने की छूट होनी चाहिए। कोई जोर-जबरदस्ती नहीं। संगीत तो ऐसा विषय है कि जिसे अनिवार्यतः सिखाया भी नहीं जा सकता। ऐसा माना जाता है कि शायद ही कोई बालक ऐसा हो, जिसे संगीत प्रिय न हो। संगीत के प्रति अरुचि पैदा करने वाले वही लोग होते हैं जो बालक को संगीत की ओर ले जाते हैं। बार-बार की बाध्यता से बालक संगीत के प्रति बधिर व शत्रु बन जाता है। हम बालक को छूट देंगे तो हमें उन्हें देखने का मौका मिलेगा और उनकी रुचियों के अंतर की जानकारी मिलेगी। कोई बालक हमें ताल-प्रिय मिलेगा तो कोई ज्ञान-प्रिय, कोई कंठ से संगीत में भागीदार बनेगा तो कोई हाथ से, कोई कुछ नहीं करेगा तो कद्रदानी तो व्यक्त करेगा ही।

संगीत में गायन और वादन होता है। इनसे गायक और वादक को ही नहीं, श्रोता को भी आनंद प्राप्त होता है। लेकिन संगीत-शिक्षण का असली प्रयोजन गायन-वादन सिखाना नहीं है अपितु संगीत के प्रति बालक की अभिमुखता जाग्रत करना है। गायन-वादन सिखाने से बालकों की रुचि कुचली जाती है और उनकी अभिमुखता आहत होती है। शिक्षण की अनिवार्यता से विवश बालक गाता भी है, बजाता भी है और दूसरों को प्रसन्न भी कर सकता है, लेकिन स्वयं दुःख महसूस करता है। संगीत तो एक कला है। जहाँ इसके सृजन में सहजता होती है वहीं सच्चा आनंद प्राप्त होता है। कलात्मकता के साधन—गायन और वादन को व्यक्ति सीख भले ही ले, पर उसका सच्चा आनंद तो भीतर की सर्जनात्मक वृत्ति को अवकाश देने में निहित है। किसी सभा-सम्मेलन में श्रोताओं को अपने गायन से

आनंदित कर देने वाले कुशल गायक के आनंद की तुलना में एकाध गीत गुनगुनाने वाले बालक का आनंद कहीं बढ़कर होता है।

सहगायन करने वाले शिक्षक को अच्छा गायक व रसिक होना ही चाहिए। वह अपने संगीत का स्पर्श बालकों को तभी करा सकता है कि जब बालकों के प्रति उसमें सहानुभूति हो, उसमें उनके प्रति गहरी समझ हो। बालक और गायक के हृदय के तार जब तक जुड़ते नहीं तब तक संगीत एक हृदय से दूसरे के हृदय तक नहीं पहुँच सकता। शिक्षण में और जीवन में यह सत्य सार्वभौम है। यदि गाने वाला सिर्फ गवैया होगा, गिनती के गीत गवाकर काम समाप्त करने वाला होगा तो बेशक बालकों को शब्द याद रहेंगे, वे गाएंगे भी, पर उनके गायन में संगीत का प्राण नहीं होगा। वे संगीत-प्रेमी नहीं बनेंगे। गायक को व्यावसायिक वृत्ति का नहीं होना चाहिए, न उसे अपनी मौज के अनुसार गाने वाला होना चाहिए, न ही उसे सिर्फ बालकों द्वारा गवा कर बताने वाला होना चाहिए। उसे तो बालकों के संग गाने वाला होना चाहिए—बालक बनकर नहीं अपितु उनके साथ मिलकर गाने वाला। भले ही बालक क्षणभर के लिए शिक्षक के बड़प्पन को भूल जाए, भले ही वह शिक्षक की ज्ञान-समृद्धि और गुरुता को भूल जाए, पर यदि बालकों की दृष्टि में शिक्षक का ज्ञान दृष्टांत स्वरूप उपस्थित रहेगा तो वह गायन उसके हृदय में अंकित रहेगा।

यह बात संगीत और लोकसंगीत दोनों पर लागू होती है।

जिस प्रकार काव्य की शुरुआत लोकगीत से की गई है वैसे ही संगीत की शुरुआत भी लोकगीत से की गई है। शिष्ट संगीत की राग-रागणियाँ एवं तानें बालकों के लिए मुश्किल रहती हैं। नन्हें शिशुओं के पेट और पाचन क्रिया के लिए जितना महत्त्व माता के दूध या गाय के दूध आदि का होता है, उतना ही महत्त्व लोकसंगीत का होता है। लोकगीत और शिष्ट संगीत के बीच का अंतर सुस्पष्ट है। लोकगीत की समता ग्राम्य बाला से की जाती है तो शिष्ट संगीत की समता नगर की रमणी से। लोकगीत की समता भले-भोले ग्वाले से की जाती है तो शिष्ट संगीत की समता शहर के किसी नामी विशेषज्ञ से। यह तो अंतर बताने हेतु की गई एक तुलना है। विचारणीय बात यह है कि लोकगीत को लोकगीत के ढंग से गाना चाहिए। उसे शिष्ट संगीत का स्पर्श देकर उसकी स्वाभाविकता को भ्रष्ट नहीं करना चाहिए। लोक-प्रचलित रीति से ही उसे गाना चाहिए।

लोकगीत के परिचय से ही संगीत-शिक्षण शुरू किया जाता है अतः बालक की वृत्ति का संगीत-विषय में वहीं से अवलोकन किया जाना चाहिए तथा बीच में आने वाली बाधाएँ दूर करनी चाहिए। नन्हें बालकों की कठिनाइयाँ बहुत होती है। कुछ बालकों में ऐसी हीन-ग्रंथि बन जाती है कि वे गा ही नहीं सकते, तो कुछ यह मानकर चलते हैं कि उन्हें तो गाना ही नहीं आता। जब बच्चे समूहगान कर रहे हों तो अच्छा गाने वाले बच्चे अपने से थोड़े निचले स्तर के बच्चों के साथ मसखरी करने लगते हैं अथवा यों कहें कि उनसे ऐसा हो जाता है। ऐसे में वह बालक हताश और क्षुब्ध हो उठता है। 'मुझे नहीं आता' का उसे रोग हो जाता है और वह सचमुच संगीत विरोधी या संगीत-द्वेष्टा बन जाता है। लोकगीत गाते समय ऐसी परिस्थिति हर्गिज न बने, इस बात का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए, क्योंकि आगे के संगीत-शिक्षण में ऐसी घटनाओं का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। वस्तुतः यहीं से संगीत का मार्ग अवरुद्ध होने की आशंका रहती है। अतः बेसुरे बालकों को भी हताश न होने दें। उनके बेसुरेपन की खिल्ली न उड़ाएँ, न ही उन्हें यह आभास होने दें कि उनकी शक्ति कितनी-कैसी है! हमें ऐसे बालक को ऐसा सुंदर वातावरण देना चाहिए ताकि उसकी वह न्यूनता मिट सके। बालक दूसरों के कथन से प्रभावित हो जाते हैं अतः हम शाला में अपनी प्रतिक्रिया को रोक कर रखें तथा दूसरों के अभिप्रायों को निरर्थक बताते रहें।

किसी भी बालक के मन में हमें ऐसी बात हर्गिज नहीं बिठानी चाहिए कि उसे संगीत अच्छा नहीं लगता अपितु अमुक अच्छा लगता है। कई बार ऐसा कहने से ही बालक को अमुक 'अच्छा' लगने लगता है और अमुक 'नहीं' लगता। कहने का बालक पर तत्काल प्रभाव पड़ता है और वह वैसा ही बन जाता है जैसा कहा जाता है।

बस, बालक लोकगीत सुनें और उनसे वांछित प्रभाव ग्रहण करें। हमें अपना अभिप्राय व्यक्त करने की जरूरत नहीं है।

बच्चे स्वभावतः भड़कने वाले होते हैं। वे मास्टरजी के नाम से भी भड़क उठते हैं और अंधेरे कक्ष से भी भड़क उठते हैं। अतः किसी भी बालक को जबरदस्ती नहीं लाना चाहिए। हमारे युक्तिपूर्ण प्रयत्नों को भी बालक जान सकते हैं। पहले उनको आमंत्रित करें, उनका सत्कार करें पर यदि उनके सामने एक बार

भी युक्ति आजमाई गई और वे जान गए तो हम पर विश्वास ही नहीं करेंगे। तब भला सीखेंगे कैसे? यह एक सामान्य तथ्य है, पर सत्य है, जो यहाँ लागू होता है।

लोकगीत और लोकसंगीत को जब बालक सामने बैठकर सुनेंगे, तभी उन्हें लाभ होगा और तभी वे सुनेंगे—ऐसी मान्यता गलत है। इसमें स्वभाव-भेद निहित है। सामने बैठे बालक प्रायः संगीत से काफी दूर होते हैं, जबकि दूर-दूर भटकने वाले बालक संगीत को ग्रहण करते हैं, आनंद लेते हैं। शर्मीले बालक बाहर फिरते हैं, डरे हुए बालक भी बाहर रहते हैं, जबकि कई बालक संगीत-प्रिय बालकों के साथ नहीं बैठेंगे तो न जाने क्या होगा, इस विचार से डरे हुए संगीत-प्रिय न होते हुए भी कक्ष के अंदर बैठते हैं।

लोकगीत अथवा संगीत का कितना प्रभाव पड़ा है, यह बात अलग-अलग समय पर विद्यालय में भी देखते रहना चाहिए और घरों में भी नजर रखनी चाहिए। गृहकार्य जैसी कोई बात तो यहाँ है नहीं।

विद्यालय में लोकगीत को स्थान देने के साथ ही साथ दो-एक बातों पर ध्यान रखना समीचीन होगा। लोकगीत का अर्थ 'पुराने गीत' नहीं है। लोकगीत नए भी होते हैं। पुराने गीत ही लोकगीत होते हैं, ऐसी व्याख्या अपूर्ण है। वस्तुतः लोकभोग्य एवं लोकप्रिय गीत ही लोकगीत होते हैं। प्रत्येक समाज के पुराने गीतों की भाँति नए गीत भी होते हैं। नई पीढ़ियाँ नए गीतों को जन्म देती ही है। अतएव ऐसी भ्रांति नहीं होनी चाहिए बस 'पुराने गीत, पुराने गीत और कुछ नहीं चाहिए।'

हम गीतों में लय, ताल और सरलता —बस यही चाहते हैं। यदि ये सब बातें नए गीतों में हों, तो वे लोकगीत ही हैं। पुराने लोकगीतों में पुराने भाव हैं, पुरानी लय है। पुराने रूप में नए भावों से भरे हुए नए गीत पुरानों की तुलना में अधिक संगत प्रतीत होते हैं। जसमा ओडन के पुराने गीत और नए गीत दोनों रासड़ों की तुलना करके देखा जा सकता है। आज की हमारी भावनाएँ अपेक्षाकृत अधिक विकसित और सूक्ष्म हैं। हम अपने हृदय को अधिक सूक्ष्मता से अभिव्यक्त करना चाहते हैं और यह हमारी अनिवार्यता है। अतः हमारा लोकगीत पुरानी विधा में भी नया होना चाहिए और हो भी सकता है। गुजराती के यशस्वी कवि न्हानालाल के रासड़ों की यही तो विशेषता है। आज की जटिल भावनाओं के वेग को वे पुरानी विधाओं के माध्यम से व्यक्त करते हैं और उस रचना में देहांतर

जितना अंतर कर डालते हैं, फिर भी लोकगीतों की प्राणवत्ता वैसी की वैसी जीवंत बनी रहती है । ऐसी रचना करने वाला व्यक्ति ही लोककवि कहलाता है । हमें पुराने गीतों और नए गीतों-दोनों को काम में लाना चाहिए ।

लोकगीतों में विद्यमान काव्य तत्व के लिए काव्य-शिक्षण की, उनके संगीत के लिए संगीत-शिक्षण की तथा भाषा के लिए भाषा-शिक्षण की शुरुआत के बतौर विद्यालयों में लोकगीतों का आवश्यक व उपयोगी स्थान है । लोकगीतों की भाषा जाने-अनजाने बालक की भाषा को गढ़ती ही है । गीतबद्ध भाषा हमेशा लंबे समय तक याद रहती है । पंक्तियों के पारस्परिक संबंध से गीतों का अर्थ-गौरव भलीभाँति समझ में आता है । बालक जो भाषा घर में बोलता है उसका गीतों में उपयोग होने से वह शब्द-चमत्कार अनुभव करता है । गायन की वजह से भाषा का परिचय अधिकाधिक दृढ़ होता है । बालक अधिक से अधिक सुनते हैं, पर उनके मन में बहुत-सी बातें अस्पष्ट रहती हैं । उनके लिए समझ लेने के उपरांत ही भाषा सुनने या जानने का प्रयत्न करने की कोई बाध्यता रखना असंभव, हास्यास्पद व अस्वाभाविक है । लोकगीत, वार्ता-कथन, बातचीत आदि माध्यम बालक की भाषा को शुद्ध एवं सशक्त बनाने में मददगार हैं ।

इस संबंध में 'कविता और बालक' शीर्षक निबंध में बहुत सही लिखा गयाहै ।

लोकगीत का व्यवस्थित अभ्यास माध्यमिक शालाओं में तथा गहन अध्ययन महाविद्यालयों में कराया जाना चाहिए । प्राथमिक शालाओं में तो उनका परिचय कराना ही पर्याप्त है । पढ़ना सीख लेने पर तो बालक लोकगीतों के संग्रहों को पढ़ें और भावों-विचारों को स्पष्टता से समझें । इन संग्रहों को पढ़ाया नहीं जाना चाहिए । हाँ, कठिन शब्दों के अर्थ नीचे लिख जाएँ तो अच्छी बात है । ❑